दशमोऽध्यायः

ऋषिः—वरुणः। देवता—आपः। छन्दः—निचृदार्षीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

राजा व प्रजा

अपो देवा मधुमतीरगृभ्णन्नूर्जस्वती राजस्वुश्चितानाः।
याभिर्मित्रावरुणावभ्यषिञ्चन् याभिरिन्द्रमनयन्नत्यरातीः॥१॥

इस अध्याय के प्रथम सतरह मन्त्रों का ऋषि 'वरुण' है। 'वरुण' के दो अर्थ हैं (क) जो चुनते हैं, और (ख) जो चुना जाता है। जब चुनाव का समय आता है उस समय **देवाः**=चुनाव में जीतने की कामनावाले (दिव्=विजिगीषा) उम्मीदवार (candidates) **अपः**=प्रजाओं को **अगृभ्णन्**=इकट्ठा करते हैं, उनकी सभा बुलाते हैं, जिससे प्रजाएँ उम्मीदवार के भाषण से उसकी योग्यता व अयोग्यता का आभास ले-सकें। ये प्रजाएँ १. **मधुमतीः**=माधुर्यवाली हैं। इन प्रजाओं के अन्दर कटुता नहीं है। वोट देनेवालों में द्वेषादि के भाव कार्य न करते हों। यदि वे द्वेषादि से प्रेरित होकर चुनाव में भाग लेंगे तो चुनाव ग़लत ही होगा। २. **उर्जस्वतीः**=ये बल और प्राणशक्तिवाली हैं। बीमार व्यक्ति स्वस्थ मन से कार्य नहीं कर सकता। ३. **राजस्वः**=ये राजा को जन्म देनेवाली हैं। इन्हें यह समझ है कि हमें शासन के लिए अपने में से ही एक व्यक्ति को राजा चुनना है। राजा ने कहीं बाहर से नहीं आना। ४. **चितानाः**=ये प्रजाएँ चेतना—संज्ञानवाली हैं, सामान्यतः अपना हिताहित समझती हैं। ५. ये प्रजाएँ वे हैं **याभिः**=जिनसे **मित्रावरुणौ**=मित्र और वरुण का **अभ्यषिञ्चन्**=अभिषेक होता है, अर्थात् उस व्यक्ति को शासनाधिकार सौंपा जाता है जो सबके साथ स्नेह करनेवाला है और द्वेष के निवारण के लिए प्रयत्नशील होता है। प्रजाएँ जिसका चुनाव करें उसकी प्रथम विशेषता यही होनी चाहिए कि यह स्नेह की वृद्धि व द्वेष के दूरीकरण के लिए प्रयत्नशील हो। ६. ये प्रजाएँ वे हैं **याभिः**=जो **इन्द्रम्**=जितेन्द्रिय—विषयों में अनासक्त राजा को **अरातीः**=शत्रुओं के **अतिअनयन्**=पार ले-जाती हैं। जब प्रजाएँ राजा के साथ होती हैं तो राजा के पराजय की आशंका नहीं होती।

भावार्थ—चुनाव की अधिकारिणी प्रजा वह है जो माधुर्यवाली, शक्तिशाली, समझदार, अर्थात् हिताहित को समझनेवाली है तथा राजा बनने के योग्य वह है जो स्नेह, निर्द्वेषता व जितेन्द्रियता से युक्त है।

ऋषिः—वरुणः। देवता—वृषा। छन्दः—स्वराड्ब्राह्मीपङ्क्तिः। स्वरः—पञ्चमः॥

ये+अमुष्मै

वृष्णऽऊर्मिरसि राष्ट्रदा राष्ट्रं मे देहि स्वाहा वृष्णऽऊर्मिरसि राष्ट्रदा
राष्ट्रममुष्मै देहि वृषसेनोऽसि राष्ट्रदा राष्ट्रं मे देहि स्वाहा
वृषसेनोऽसि राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै देहि॥२॥

प्रस्तुत मन्त्र में पुरोहित प्रजा से कह रहा है कि तुम राष्ट्र को पहले मुझे सौंपो और फिर इस राजा को। राष्ट्र को केवल क्षत्रिय के हाथों में नहीं सौंपना है, उसे ब्राह्मण तथा

क्षत्रिय दोनों के हाथों में सौंपना ही ठीक है। १. हे प्रजे! तू **वृष्णः**=अग्नि व सोम का (शक्ति व शान्ति का) **ऊर्मिः**=(ऊर्णुञ् आच्छादने) अपने अन्दर आच्छादन करनेवाली है, **राष्ट्रदाः**=राष्ट्र को देनेवाली है। प्रजा ही तो राष्ट्र को बनाती है। यह इस राष्ट्र को कुछ व्यक्तियों के हाथ में सौंपती है। पुरोहित कह रहा है कि **राष्ट्रम्**=इस राष्ट्र को **मे देहि**=तुम मुझे सौंपो। **स्वाहा**=और स्व का हा=त्याग करो, अर्थात् उचित कर देनेवाली बनो। **वृष्णः ऊर्मिः असि**=हे प्रजे! तू अग्नि व सोम की आच्छादिका है, **राष्ट्रदाः**=राष्ट्र को देनेवाली है। **राष्ट्रम्**=राष्ट्र को **अमुष्मै**=उस सभापतिरूप से चुने गये राज्याभिषिक्त व्यक्ति के लिए **देहि**=सौंप। २. यह राष्ट्र का पुरुषवर्ग **वृषसेनः असि**=शक्तिशाली सेनावाला है। राष्ट्र के नवयुवकों में से ही तो शक्तिशाली सेना का निर्माण होना है। हे वृषसेन! तू **राष्ट्रदाः**=राष्ट्र को देनेवाला है। बिना सेना के भी राष्ट्र का निर्माण नहीं हो पाता। **राष्ट्रम्**=राष्ट्र को **मे**=मुझ पुरोहित के लिए **देहि**=तू सौंप और **स्वाहा**=स्वार्थ का त्याग करके राष्ट्र को शक्तिशाली बना। हे पुरुषवर्ग! तू **वृषसेनः असि**=शक्तिशाली सेनावाला है। **राष्ट्रदाः**=राष्ट्र को देनेवाला है। **राष्ट्रम्**=राष्ट्र को **अमुष्मै**=अमुक राज्याभिषिक्त पुरुष के लिए **देहि**=सौंप। ३. विधेय 'प्रजा' शब्द के स्त्रीलिंग होते हुए भी 'वृषसेनः' यह पुल्लिंग का प्रयोग इसलिए है कि सेना पुरुषों में से ही एकत्र होनी है।

भावार्थ—प्रजा अपने में वृषन्, अर्थात् अग्नि व सोम दोनों तत्त्वों को रक्खे हुए है। प्रजा में उत्साह भी चाहिए, शान्ति भी। प्रजा को ही अपने में से सेना को जुटाना है। यह प्रजा राष्ट्र को पुरोहित तथा सभापति के हाथों में सौंपती है।

ऋषिः—वरुणः। **देवता**—अपांपतिः। **छन्दः**—अभिकृतिः[क], निचृज्जगती[ख]। **स्वरः**—ऋषभः[क], निषादः[ख]॥

ब्रह्म+क्षत्र

[क]अर्थेत स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहार्थेत स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्तौजस्वती स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहौजस्वती स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्तापः परिवाहिणीः स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहापः परिवाहिणीः स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्तापां पतिरसि राष्ट्रदा राष्ट्रं मे [ख]देहि स्वाहाऽपां पतिरसि राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै देह्यपां गर्भोऽसि राष्ट्रदा राष्ट्रं मे देहि स्वाहाऽपां गर्भोऽसि राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै देहि ॥३॥

१. हे प्रजाजनो! तुम **अर्थेतः (अर्थं यन्ति) स्थ**=धन को कमानेवाले हो। **राष्ट्रदाः**=राष्ट्र के देनेवाले हो। **राष्ट्रम्**=राष्ट्र को **मे दत्त**=मुझे (पुरोहित को) सौंपो। **स्वाहा**=अपने उचित कर भाग के त्याग करनेवाले बनो। तुम **अर्थेतः स्थ**=धन कमानेवाले हो, **राष्ट्रदाः**=राष्ट्र के देनेवाले हो। **राष्ट्रं अमुष्मै दत्त**=राष्ट्र को अमुक चुने गये सभापति के लिए सौंपो। २. **ओजस्वतीः स्थ**=हे प्रजाओ! तुम शक्ति व प्रकाश-(vigour, light)-वाली हो। **राष्ट्रदाः**=राष्ट्र के देनेवाली हो। **राष्ट्रं मे दत्त**=राष्ट्र को मुझ पुरोहित के लिए सौंपो। तुम **स्वाहा**=उचित कर देनेवाली हो। **ओजस्वतीः स्थ**=तुम शक्ति व प्रकाशवाली हो। **राष्ट्रदाः**=राष्ट्र के देनेवाली हो। **राष्ट्रं अमुष्मै दत्त**=राष्ट्र को अमुक चुने गये राज्याभिषिक्त पुरुष के लिए सौंपो। ३. **आपः परिवाहिणीः स्थ**=(आप्लृ व्याप्तौ) सदा कर्मों में व्याप्त होनेवाली तथा (परितः वहन्ति) एक स्थान से दूसरे स्थान पर व्यापार के पदार्थों को ले-जानेवाली हो। **राष्ट्रदाः**=अपने व्यापार से उचित धनवृद्धि करती हुई तुम राष्ट्र को कर-भाग देनेवाली हो। **राष्ट्रं मे**

दत्त=राष्ट्र को मुझ पुरोहित के लिए दो। **स्वाहा**=उचित कर देनेवाली हो। तुम **आपः परिवाहिणीः स्थ**=व्यापक कर्मोंवाली तथा एक स्थान से दूसरे स्थान पर पदार्थों को ले-जानेवाली हो, **राष्ट्रदाः**=राष्ट्र को देनेवाली हो। **राष्ट्रं अमुष्मै दत्त**=राष्ट्र को अमुक पुरुष के लिए दो। ४. राष्ट्र का एक-एक पुरुष **अपांपतिः असि**=(आपः=रेतांसि) वीर्यशक्ति का रक्षक है, **राष्ट्रदाः**=राष्ट्र को देनेवाला है। **राष्ट्रं मे देहि**=तू राष्ट्र को मुझ पुरोहित के लिए सौंप और **स्वाहाः**=उचित धन का कर के रूप में त्याग कर। **अपांपतिः असि**=तू अपनी शक्तियों का रक्षक है, **राष्ट्रदाः**=राष्ट्र को देनेवाला है। **राष्ट्रम् अमुष्मै देहि**=राष्ट्र को उस राज्याभिषिक्त पुरुष के लिए दे। ५. **अपां गर्भः असि**=(गर्भ=full of) तू शक्तियों से परिपूर्ण है। तू ही **राष्ट्रदाः**=वास्तविक राष्ट्र को देनेवाला है। **राष्ट्रं मे देहि**=राष्ट्र को मुझे दे, और **स्वाहा**=उसके लिए उचित त्याग करनेवाला बन। **अपां गर्भः असि**=तू शक्तियों से परिपूर्ण है। **राष्ट्रदा**=राष्ट्र को देनेवाला है। **राष्ट्रं अमुष्मै देहि**=राष्ट्र को अमुक पुरुष को देनेवाला बन। ६. ऊपर मन्त्र में '**अर्थेतः, ओजस्वतीः, आपः, परिवाहिणीः**' शब्द बहुवचनान्त हैं ,पर '**अपांपतिः** तथा **अपां गर्भः**' ये एकवचन रक्खे गये हैं, क्योंकि 'एक-एक व्यक्ति को शक्ति की रक्षा करनी है—शक्ति से परिपूर्ण बनना है' इस बात की ओर वैयक्तिक ध्यान खींचना आवश्यक था।

भावार्थ—प्रजाएँ १. धन कमानेवाली बनें। २. शक्ति व प्रकाश को धारण करें। ३. वीर्य की रक्षा करें। और ४. शक्ति से परिपूर्ण हों। ऐसी ही प्रजाएँ एक शक्तिशाली राष्ट्र का निर्माण करनेवाली होती हैं।

ऋषिः—वरुणः। **देवता**—सूर्यादयो मन्त्रोक्ताः। **छन्दः**—जगती[१], स्वराट्पङ्क्तिः[२], स्वराडब्राह्मीबृहती:[३,४], आर्चीपङ्क्तिः[५], भुरिक्त्रिष्टुप्[६,७]। **स्वरः**—निषादः[१], पञ्चमः[२,५], मध्यमः[३], धैवतः[६,७]॥

प्रजा

[१]सूर्यत्वचस स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा सूर्यत्वचस स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त सूर्यवर्चस स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा [२]सूर्यवर्चस स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त मान्दा स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा मान्दा स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त [३]व्रजक्षित स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा व्रजक्षित स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त वाशा स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा वाशा स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त [४]शविष्ठा स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा शविष्ठा स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त शक्वरी स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा शक्वरी स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त [५]जनभृत स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा जनभृत स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त [६]विश्वभृत स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रं मे दत्त स्वाहा विश्वभृत स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्तापः स्वराज स्थ राष्ट्रदा राष्ट्रममुष्मै दत्त। [७]मधुमतीर्मधुमतीभिः पृच्यन्तां महि क्षत्रं क्षत्रियाय वन्वानाऽअनाधृष्टाः सीदत सहौजसो महि क्षत्रं क्षत्रियाय दधतीः ॥४॥

गत मन्त्र के अनुसार प्रस्तुत मन्त्र में भी कहते हैं कि हे प्रजाओ! आप १. **सूर्यत्वचसः स्थ**=सूर्य के समान देदीप्यमान त्वचावाली हो। स्वास्थ्य की दीप्ति आपके सारे शरीर को दीप्त कर रही है। २. **सूर्यवर्चसः स्थ**=सूर्य के समान वर्चस्वाली आप हो। उपनिषद् में

कहते हैं कि '**प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः**'—यह सूर्य प्रजाओं का प्राण ही है। आप भी उसी प्रकार प्राणशक्ति-सम्पन्न हो। ३. **मान्दाः स्थ**=सदा प्रसन्न रहनेवाली हो। ४. **व्रजक्षितः स्थः**=(व्रज गतौ) सदा गति में निवास करनेवाली हो—सदा क्रियाशील जीवनवाली हो अथवा (**व्रजान् गवादिस्थित्यर्थान् देशान् क्षियन्ति निवासयन्ति**—द०) गौ आदि पशुओं के स्थानों को बसानेवाले हो। ५. **वाशाः स्थ** (वाशृ शब्दे)=सदा शुभ शब्दों—वेदमन्त्रों का उच्चारण करनेवाले हो। ६. **शविष्ठाः स्थ**=अत्यन्त बल-सम्पन्न हो (शवस्=बल) ७. **शक्वरीःस्थ**=कार्यों को करने में शक्तिशाली हो। ८. अपनी इस क्रियाशीलता के द्वारा ही **जनभृतःस्थ**=सब लोगों का धारण करनेवाली हो। ९. लोगों का ही क्या, आप **विश्वभृतः स्थ**=सारे संसार का भरण व पोषण कर रही हो। आपके कार्य विश्व के कल्याण के उद्देश्य से प्रेरित होकर हो रहे हैं। इस प्रकार बनकर आप **राष्ट्रदाः**=एक सच्चे राष्ट्र को देनेवाली हो, **राष्ट्रं मे दत्त**=तुम राष्ट्र को मुझ पुरोहित के लिए दो। **स्वाहा**=कर के रूप में उचित धन का त्याग करनेवाली बनो तथा **राष्ट्रदाः**=राष्ट्र के देनेवाली तुम **अमुष्मै राष्ट्रं दत्त**=उस चुने गये राज्याभिषिक्त राजा के लिए राष्ट्र को दो। १०. आप **स्वराजः**=स्वयं अपना शासन करनेवाली **आपः**=सदा कर्मों में व्याप्त हो। **राष्ट्रदाः**=राष्ट्र को देनेवाली आप **राष्ट्रं अमुष्मै दत्त**=अमुक चुने गये सभापति के लिए राष्ट्र को दो। यहाँ इस अन्तिम वाक्य में केवल राजा के लिए राष्ट्र को सौंपने का विधान है। वस्तुतः शासन-भार राजा पर ही तो पड़ता है। पुरोहित राजा को मार्ग से विचलित न होने की प्रेरणा देता है। ११. **मधुमतीः**=माधुर्यवाली प्रजाएँ **मधुमतीभिः**=माधुर्यवाली प्रजाओं के साथ **पृच्यन्ताम्**=संपृक्त हों, अर्थात् प्रजाओं का परस्पर प्रेम हो, पारस्परिक प्रेम न होने पर राष्ट्र का बल क्षीण हो जाता है, अतः प्रजाएँ परस्पर मधुर व्यवहारवाली होती हुई **क्षत्रियाय**=राष्ट्र को आघातों से बचानेवाले राजा के लिए **महि क्षत्रम्**=महान् बल को **वन्वानाः**=संभक्त करानेवाली हों। राजा के बल को ये परस्पर एकता से रहती हुई ही बढ़ा सकती हैं। १२. पुरोहित इन प्रजाओं से कहता है कि **सह ओजसः**=एकता के बलवाली तुम **क्षत्रियाय**=राष्ट्र को आघातों से बचानेवाले राजा के लिए **महि क्षत्रं**=महनीय बल को **दधतीः**=धारण करती हुई तुम **अनाधृष्टाः**=किन्ही भी शत्रुओं से धर्षित न होती हुई **सीदत**=इस राष्ट्र में विराजमान होओ।

भावार्थ—प्रजा शक्तिशाली व माधुर्य से पूर्ण हो, परस्पर मेल से राष्ट्र की शक्ति को बढ़ानेवाली हो। ऐसी स्थिति में ही यह शत्रुओं से अनाधृष्य होती है।

ऋषिः—वरुणः। **देवता**—अग्न्यादयो मन्त्रोक्ताः। **छन्दः**—स्वराड्धृतिः। **स्वरः**—ऋषभः॥

राजा

सोमस्य त्विषिरसि तवेव मे त्विषिर्भूयात्। अग्नये स्वाहा सोमाय स्वाहा सवित्रे स्वाहा सरस्वत्यै स्वाहा पूष्णे स्वाहा बृहस्पतये स्वाहेन्द्राय स्वाहा घोषाय स्वाहा श्लोकाय स्वाहाꣳशाय स्वाहा भगाय स्वाहार्यम्णे स्वाहा॥५॥

प्रजा राजा से कहती है कि १. **सोमस्य त्विषिः असि**=तू सोम की कान्तिवाला है। शरीर में सोम की रक्षा के द्वारा तू अद्भुत तेजस्विता को धारण किये हुए है। **मे**=मेरी **त्विषिः**=दीप्ति **तव इव**=तेरे समान **भूयात्**=हो। हम सब भी सोम की रक्षा के द्वारा कान्ति-सम्पन्न बनें। २. **अग्नये स्वाहा**=राष्ट्र को निरन्तर आगे ले-चलनेवाले तेरे लिए हम कररूप में धन

देते हैं। ३. **सोमाय**=सोम की रक्षा के द्वारा शक्ति के पुञ्ज, परन्तु फिर भी सौम्य आपके लिए हम **स्वाहा**=कररूप में धन देते हैं। ४. **सवित्रे स्वाहा**=राष्ट्र का ऐश्वर्य बढ़ानेवाले आपके लिए हम कर देते हैं। ५. **सरस्वत्यै स्वाहा**=राष्ट्र के प्रत्येक व्यक्ति को शिक्षित करनेवाले आपके लिए हम कर देते हैं। ६. **पूष्णे स्वाहा**=एक-एक व्यक्ति का पोषण करनेवाले, किसी को भी भूखा न मरने देनेवाले आपके लिए हम कर देते हैं। ७. **बृहस्पतये स्वाहा**=सर्वोच्च दिशा के अधिपति और अतएव लोगों को भी उत्थान की ओर ले-चलनेवाले आपके लिए हम कर देते हैं। ८. **इन्द्राय स्वाहा**=जितेन्द्रिय के लिए और जितेन्द्रिय बनकर औरों को भी वश में करनेवाले आपके लिए हम कर देते हैं। ९. **घोषाय स्वाहा** =प्रातः वेदमन्त्रों का उच्चारण करनेवाले आपके लिए अथवा राष्ट्र में राष्ट्रीय नियमों की उद्घोषणा करवानेवाले आपके लिए हम कर देते हैं। १०. **श्लोकाय स्वाहा**=उत्तम कर्मों के कारण यशस्वी आपके लिए हम कर देते हैं। ११. **अंशाय स्वाहा**=राष्ट्र में धनों का ठीक विभाजन करनेवाले आपके लिए हम कर देते हैं। राजा को इस बात का बड़ा ध्यान करना है कि किसी एक व्यक्ति में अत्यधिक धन केन्द्रित न हो जाए, और कुछ लोग धनाभाव से भूखे न मरने लगें। उसके राष्ट्र में haves और have-nots के—अत्यधिक धनी व अतिनिर्धन के दो समाजखण्ड न बन जाएँ। १२. **भगाय स्वाहा**=उत्तम कर्मों का सेवन करनेवाले राजा के लिए हम कर देते हैं 'भज सेवायाम्'। १३. **अर्यम्णे स्वाहा**=(अरीन् यच्छति) शत्रुओं को वशीभूत करनेवाले राजा के लिए हम कर देते हैं। अथवा **'अर्यमा इति तमाहुर्यो ददाति'** इस वाक्य के अनुसार अर्यमा वह है जो देता है। 'भग' शब्द ऐश्वर्यवाचक है, अतः १२ व १३ का अर्थ इस प्रकार भी हो सकता है कि हम उस राजा को कर देते हैं जो ख़ूब ऐश्वर्य को सिद्ध करनेवाला बनकर हम सब प्रजाओं के लिए ही उस धन का उचित विनियोग करे।

भावार्थ—राजा को अग्नि आदि के गुणों से सम्पन्न होकर उत्तमता से राष्ट्र की सुव्यवस्था करनी है।

ऋषिः—वरुणः। **देवता**—आपः। **छन्दः**—स्वराड्ब्राह्मीबृहती। **स्वरः**—मध्यमः॥

राष्ट्र के 'स्त्री-पुरुष'

पवित्रे स्थो वैष्णव्यौ सवितुर्वः प्रसव उत्पुनाम्यच्छिद्रेण पवित्रेण सूर्यस्य रश्मिभिः। अनिभृष्टमसि वाचो बन्धुस्तपोजाः सोमस्य दात्रमसि स्वाहा राजस्वः ॥६॥

राष्ट्र के स्त्री-पुरुषों को सम्बोधित करके पुरोहित कहता है कि १. **पवित्रे स्थः**= आप पवित्र जीवनवाले, **वैष्णव्यौ**=व्यापक मनोवृत्तिवाले हो। वस्तुतः इस व्यापक मनोवृत्ति का ही परिणाम है कि वे पवित्र हैं। व्यापकता में ही पवित्रता है, संकोच में अपवित्रता। २. **सवितुः**=उस प्रेरक प्रभु की **प्रसवे**=अनुज्ञा में **वः**=तुम्हें **उत् पुनामि**=विषयों से **उत्**=out=बाहर करता हुआ पवित्र करता हूँ। मैं वेद में दिये गये प्रभु के आदेशों के अनुसार व्यवस्था करता हुआ तुम्हारे जीवनों को उज्ज्वल करता हूँ। ३. **अच्छिद्रेण पवित्रेण**=छेदशून्य—कहीं भी खाली स्थान न रखनेवाली इस वायु से तथा **सूर्यस्य रश्मिभिः**=सूर्य-किरणों से मैं तुम्हें पवित्र करता हूँ, अर्थात् लोगों के रहने का प्रकार ऐसा हो कि उनके घरों में वायु का पर्याप्त आना-जाना हो और सूर्य-किरणों का खूब प्रवेश हो। ऐसे ही घरों में नीरोगता

रहती है। ४. **अनिभृष्टम् असि**=(अनाधृष्टाः—उ०) तुम किसी भी प्रकार के रोगों से पराभूत नहीं होते हो। ५. **वाचो बन्धुः**=वाणी के तुम बन्धु हो। वेदवाणी को पढ़कर उसे अपने कार्यों में व्यक्त करनेवाले हो। इस प्रकार वेदवाणी को जीवन से बाँधनेवाले हो। ६. **तपोजाः**=तप के द्वारा तुम अपना प्रादुर्भाव—विकास करनेवाले हो। ७. **सोमस्य दात्रम् असि**=सोम की दराँतीवाले हो। शरीर में सुरक्षित सोम रोगों व द्वेषादि भावों को काटनेवाला होता है। ८. **स्वाहा**=तुम राष्ट्र के लिए **स्व**=अपने धन का **हा**=त्याग करनेवाले हो। ९. **राजस्वः**=तुम राजा को जन्म देनेवाली हो। वस्तुतः उल्लिखित गुणों से सम्पन्न प्रजाएँ ही राजा का ठीक चुनाव कर सकती हैं।

भावार्थ—राष्ट्र का प्रत्येक स्त्री-पुरुष पवित्र बनने का प्रयत्न करे।

ऋषिः—वरुणः। **देवता**—वरुणः। **छन्दः**—विराडार्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

अपां शिशुः

सधमादो द्युम्निनीरापऽएताऽअनाधृष्टाऽअपस्यो वसानाः।
पस्त्यासु चक्रे वरुणः सधस्थमपाꣳशिशुर्मातृतमासु अन्तः॥७॥

प्रजाओं का चित्रण करते हुए कहते हैं कि १. ये **सधमादः**=(सह मद्) साथ—मिलकर रहने में आनन्द लेनेवाली हैं। प्रजाओं में परस्पर प्रेम है—लड़ाई-झगड़ों में ये उलझी हुई नहीं हैं। २. **द्युम्निनीः**=ज्ञानरूप ज्योतिवाली हैं, मूर्ख नहीं है। ३. **आपः**=सदा कर्मों में व्याप्त रहनेवाली हैं। ४. इसी कारण **एताः**=ये प्रजाएँ **अनाधृष्टाः**=काम-क्रोधादि शत्रुओं से धर्षित होनेवाली नहीं हैं। ५. **अपस्यः**=(अपःसु कर्मसु साध्व्यः, जस्=सुः—द०) कर्मों में उत्तम हैं, अर्थात् सदा उत्तम कर्मों में व्यापृत रहती हैं। ६. **वसानाः**=अपने को आच्छादित करनेवाली हैं, दोषों से बचानेवाली हैं। ७. **पस्त्यासु**=घरों में रहनेवाली ऐसी प्रजाओं में **वरुणः**=प्रजाओं से वरण किया गया राजा **सधस्थं चक्रे**=(सह स्थ) उनके साथ मिलकर निवास करता है। यह प्रजाओं से दूर, उनके लिए अनभिगम्य नहीं बन जाता। ८. **अपां शिशुः**=प्रजाओं का ही यह सन्तान है। प्रजाओं ने ही इसे जन्म दिया है। इसी कारण प्रजाएँ 'राजस्वः' कहलाती हैं। यह प्रजाओं का सन्तानभूत राजा **मातृतमासु अन्तः**=इन अत्यन्त उत्तम माताओं के अन्दर ही निवास करता है। राजा एक दृष्टिकोण से प्रजारूप मातावाला है। उन्हीं के गर्भ में इसका निवास है। प्रजाओं को माता इसलिए कहा है कि उन्हें राष्ट्र में सदा निर्माण के कार्यों में व्यापृत रहना चाहिए। **माता निर्माता**=निर्माण करनेवाली ही राष्ट्र की उत्तम माताएँ होती हैं।

भावार्थ—उत्तम प्रजाएँ वे ही हैं जो परस्पर मेलवाली, ज्ञान के प्रकाशवाली, कर्मों में व्यापृत, वासनाओं से अनाधृष्ट, कर्म-कुशल व दोषों से अपने को बचानेवाली हैं। इन्हीं प्रजाओं के अन्दर राजा का निवास है। राजा प्रजाओं की सन्तान है, प्रजाएँ राजा की उत्कृष्ट माताएँ हैं।

ऋषिः—वरुणः। **देवता**—यजमानः। **छन्दः**—कृतिः। **स्वरः**—निषादः॥

क्षत्र का उल्ब

क्षत्रस्योल्बमसि क्षत्रस्य जरायवसि क्षत्रस्य योनिरसि क्षत्रस्य नाभिरसीन्द्रस्य वार्त्रघ्नमसि मित्रस्यासि वरुणस्यासि त्वयायं वृत्रं वधेत्। दृवासि रुजासि क्षुमासि। पातेनं प्राञ्चं पातेनं प्रत्यञ्चं पातेनं तिर्यञ्चं दिग्भ्यः पात॥८॥

राजा के लिए कहते हैं कि १. हे राजन्! तू **क्षत्रस्य उल्ब असि**='उल्ब' शब्द

गर्भाधारभूत उदक के लिए आता है, अतः तू क्षत्र का उल्ब है, आधारभूत है। राष्ट्र को आघातों से बचानेवाली शक्ति 'क्षत्र' है। राजा उस शक्ति का आधार है। २. **क्षत्रस्य जरायु असि**=क्षत्र का तू गर्भवेष्टन है। यह क्षत्र नामक बल तुझमें सुरक्षित है। ३. **क्षत्रस्य योनिः असि**=क्षत्र का तू उत्पत्ति-स्थान है। ४. **क्षत्रस्य नाभिः असि**=क्षत्र का तू केन्द्र है। उसे अपने में बाँधनेवाला है। ५. **इन्द्रस्य वार्त्रघ्नं असि**=तू इन्द्रियों का अधिष्ठाता बनकर ज्ञान के आवरणभूत वृत्र का संहारक है। ६. **मित्रस्य असि वरुणस्य असि**=तू मित्र का है और तू वरुण का है, अर्थात् तू सदा सबके साथ स्नेह करनेवाला है, किसी के भी प्रति द्वेष करनेवाला नहीं है। **त्वया अयं वृत्रं वधेत्**=तेरे साथ मिलकर, तेरे साहाय्य से यह प्रजा-वर्ग भी वृत्र का-काम का संहार करे। ७. हे राजन्! **दृवा असि**=(दृणाति) तू शत्रुओं का विदारण करनेवाला है। **रुजा असि**=रणक्षेत्र में शत्रुओं को भगानेवाला और **क्षुमा असि**=शत्रुओं को कम्पित करनेवाला है। ९. हे प्रजाओ! आप **एनम्**=ऐसे राजा को **प्राञ्चं पात**=पूर्व दिशा से सुरक्षित करो। **एनम्**=इसे **प्रत्यञ्चं पात**=पश्चिम से सुरक्षित करो। **तिर्यञ्चं एनं पात**=इसे एक सिरे से दूसरे सिरे तक (crosswise) सुरक्षित करो। संक्षेप में **दिग्भ्यः पात**=सब दिशाओं से सुरक्षित करो।

भावार्थ—राजा को शक्ति का केन्द्र व पुञ्ज होना चाहिए। यही शत्रुओं को नष्ट करनेवाला है। प्रजाओं को चाहिए कि उसकी सर्वतः रक्षा करें।

ऋषिः—वरुणः। **देवता**—प्रजापतिः। **छन्दः**—भुरिगष्टिः। **स्वरः**—मध्यमः॥

राजा की योग्यताएँ

आविर्मर्याऽआवित्तोऽअग्निर्गृहपतिरावित्तऽइन्द्रो वृद्धश्रवाऽआवित्तौ मित्रावरुणौ धृतव्रतावावित्तः पूषा विश्ववेदाऽआवित्ते द्यावापृथिवी विश्वशम्भुवावावित्तादितिरुरुशर्मा ॥९॥

हे **मर्याः**=मनुष्यो! **आविः**=तुम्हारे सामने यह राजा प्रकटरूप से उपस्थित है। १. **अग्निः गृहपतिः**=राष्ट्र को आगे ले-चलनेवाला, गृहों का रक्षक यह राजा **आवित्तः**=सब ओर प्रसिद्ध है। यह जिस योजना को हाथ में लेता है उसे आगे ले-चलता है-उसमें बड़ी उन्नति कर देता है और राष्ट्ररूप घर का रक्षक प्रमाणित होता है। २. यह **इन्द्रः**=जितेन्द्रिय है, **वृद्धश्रवाः**=बढ़ी हुई कीर्तिवाला है अथवा अत्यन्त उत्कृष्ट ज्ञानवाला है **आवित्तः**=वह चारों ओर सबसे इसी रूप में जाना गया है। सब लोग इसकी जितेन्द्रियता व उन्नत ज्ञान की चर्चा करते हैं। ३. **धृतव्रतौ मित्रावरुणौ आवित्तौ**=यह व्रतों को धारण करनेवाले मित्र और वरुण के रूप में प्रसिद्ध है। यह स्नेह को फैलानेवाला और द्वेष का दूर करनेवाला होगा। स्नेह और निर्द्वेषता तो मानो इसके व्रत ही हैं। ४. **पूषा विश्ववेदा आवित्तः**=फिर यह इस रूप में प्रसिद्ध है कि यह पोषण करनेवाला है और सम्पूर्ण धनों-(विद् लाभे, वदेस्=धन)-वाला है। यह सभी को पोषण के लिए आवश्यक धन प्राप्त कराता है। ५. **द्यावापृथिवी आवित्ते**=(द्यावा=मस्तिष्क, पृथिवी=शरीर) इस राजा के मस्तिष्क व शरीर दोनों ही प्रसिद्ध हैं। ज्ञान के दृष्टिकोण से यह ऋषि है तो शरीर के दृष्टिकोण से एक मल्ल। इसका शारीरिक बल व बुद्धि का ज्ञान दोनों ही **विश्वशम्भुवौ**=सब संसार में शान्ति को जन्म देनेवाले हैं। ६. **आवित्ता अदितिः**=यह अदीना देवमाता के रूप में प्रसिद्ध है। यह दीन नहीं है व दिव्य गुणों से विहीन नहीं है। **उरुशर्मा**=विशाल कल्याण को करनेवाला है। यह

राष्ट्र को सम्मान देनेवाला है।

भावार्थ—राजा उसे ही बनाना चाहिए जिसकी प्रसिद्धि इस रूप में हो कि यह 'अग्नि, गृहपति, इन्द्र, वृद्धश्रवाः मित्र, वरुण, धृतव्रत, पूषा, विश्ववेदाः=उत्तम शरीर व मस्तिष्कवाला, सबको शान्ति प्राप्त करानेवाला, अदिति व उरुशर्मा' है।

ऋषिः—वरुणः। **देवता**—यजमानः। **छन्दः**—१० विराडार्षीपङ्क्तिः, ११, १३ आर्चीपङ्क्तिः, १२ निचृदार्ष्यनुष्टुप्, १४ भुरिग्जगती। **स्वरः**—१०, ११, १३ पञ्चमः, १२ गान्धारः, १४ निषादः॥

नातिमानिता

अवेष्टा दन्दशूकाः प्राचीमारोह गायत्री त्वावतु
रथन्तरꣳसाम त्रिवृत् स्तोमो वसन्तऽऋतुर्ब्रह्म द्रविणम्॥१०॥
दक्षिणामारोह त्रिष्टुप् त्वावतु बृहत्साम पञ्चदश स्तोमो
ग्रीष्मऽऋतुः क्षत्रं द्रविणम्॥११॥
प्रतीचीमारोह जगती त्वावतु वैरूपꣳसाम सप्तदश स्तोमो
वर्षाऽऋतुर्विड् द्रविणम्॥१२॥
उदीचीमारोहानुष्टुप् त्वावतु वैराजꣳसामैकविꣳश स्तोमः
शरदृतुः फलं द्रविणम्॥१३॥
ऊर्ध्वामारोह पङ्क्तिस्त्वावतु शाक्वररैवते सामनी त्रिणवत्रयस्त्रिꣳशौ
स्तोमौ हेमन्तशिशिरावृतू वर्चो द्रविणं प्रत्यस्तं नमुचेः शिरः॥१४॥

१. हे राजन्! तू राष्ट्र में ऐसी व्यवस्था कर कि **दन्दशूकाः**=औरों को अकारण ही डसनेवाले सर्पवृत्ति के लोग, कुटिल चाल से चलनेवाले औरों को पीड़ित करनेवाले लोग **अवेष्टाः**=(अवयज=नाशि) नष्ट कर दिये जाएँ, राष्ट्र में ऐसे लोग न पनप पाएँ। इसके लिए तू निम्न प्रयत्न कर—२. **प्राचीम् आरोह**=पूर्व दिशा में आरूढ़ हो। यह 'प्राची' दिशा (प्र+अञ्च्) आगे बढ़ने की दिशा है। तू अग्रगति का अधिपति बन। यदि तू निरन्तर आगे बढ़ने का ध्यान रखेगा तो **दक्षिणाम् आरोह**=दक्षिण का आरोहण करनेवाला होगा, अर्थात् तू प्रत्येक कार्य को करने में दक्षिण=कुशल बन पाएगा। यह कार्य-कुशलता तेरे ऐश्वर्य-वृद्धि का कारण बनेगी। उस समय तूने **प्रतीचीम् आरोह**=प्रतीची का आरोहण करना है। प्रतीची अर्थात् प्रति-अञ्च्=वापस होना—विषयों में न फँस जाना, अर्थात् विषय-व्यावृत्त होना—प्रत्याहार का पाठ पढ़ना अत्यन्त आवश्यक है। ऐसा करने पर तू **उदीचीम् आरोह**=उत्तर दिशा का आरोहण करनेवाला होगा, अर्थात् तेरी उन्नति प्रारम्भ होगी और एक दिन **ऊर्ध्वाम् आरोह**=तू सर्वोच्च दिशा पर आरूढ़ हुआ होगा। ३. इस उल्लिखित मार्ग पर चलने से तुझे क्रमशः **ब्रह्म द्रविणम्**=ज्ञानरूप धन प्राप्त होगा। निरन्तर आगे बढ़नेवाला व्यक्ति कण-कण करके ज्ञान प्राप्त करता है। ज्ञानी व कार्यकुशल बनकर यह **क्षत्रं द्रविणम्**=शक्तिरूप धन प्राप्त करता है। क्रियाशीलता शक्तिवृद्धि का कारण बनती है। **विट् द्रविणम्**=ज्ञान और शक्ति प्राप्त करके अब यह (विट्) 'उत्तम प्रजा' रूप धनवाला होता है। इस उत्तमता को स्थायी बनाने के लिए **फलं द्रविणम्**=फलरूप धनवाला होता है। यह राजा राष्ट्र में फलों के उत्पादन का इस रूप में आयोजन करता है कि सब लोगों का मुख्य भोजन ये फल ही

हो जाते हैं। इस सात्त्विक भोजन से ही प्रजाओं का जीवन उत्तम बनता है। उनके ज्ञान व शक्ति की वृद्धि होती है। इन फलों से **वर्चः द्रविणम्**=वर्चस्–प्राणशक्तिरूप धन प्राप्त होता है। वस्तुतः **प्राची**=निरन्तर आगे बढ़ना **ब्रह्म**=ज्ञान–प्राप्ति का मुख्य उपाय है। **दक्षिणा**=कार्यकुशलता **क्षत्र** =बल का कारण है। **प्रतीची**=विषयनिवृत्ति **विट्**=उत्तम प्रजा का कारण है। **उदीची** =उन्नति के लिए शाकाहारी फल=वनस्पति आदि का भोजन आवश्यक है। सर्वोच्च स्थिति **ऊर्ध्वा**=में पहुँचने पर मनुष्य ब्रह्म के समान वर्चस्वी बनता है। इस प्रकार इन मन्त्रों में पहले और अन्तिम वाक्यों का परस्पर सम्बन्ध है। यह सम्बन्ध आगे चलकर दूसरे व पाँचवें वाक्यों में होगा और तीसरे व चौथे में यह सम्बन्ध दिखेगा। साहित्य में यह शैली 'चक्रबन्ध काव्य' के नाम से प्रसिद्ध है। ४. दूसरे स्थान पर स्थित वाक्यों का अर्थ इस प्रकार है कि **'गायत्री–त्रिष्टुप्–जगती–अनुष्टुप्** और **पङ्क्तिः'**=ये सब छन्द **त्वा**=तेरी **अवतु**=रक्षा करें। परिणामतः तेरे जीवन में पाँचवें–पाँचवें वाक्यों के अनुसार क्रमशः **वसन्तः, ग्रीष्म, वर्षा, शरद् ऋतुः, हेमन्त–शिशिरौ ऋतू**='वसन्त–ग्रीष्म–वर्षा–शरद् व हेमन्त–शिशिर' ऋतुओं का आगमन होगा। क. **गायत्री**=(गयाः प्राणाः तान् तत्रे) प्राण–रक्षण से वसन्त=तेरा उत्तम निवास होगा। जिस प्रकार वसन्त ऋतु पुष्प–फल–वृद्धिवाली होती है, उसी प्रकार तेरे जीवन में सब शक्तियों का विकास होगा। ख. **त्रिष्टुप्** (त्रिष्टुप् stop) काम, क्रोध व लोभ को रोक देने से तेरा जीवन 'ग्रीष्म' ऋतुवाला होगा। तेरे जीवन में सचमुच उष्णता व उत्साह होगा। ग. **जगती**=निरन्तर गति शक्तिशीलता से तेरे जीवन की ऋतु–चर्या **वर्षा**=सब सुखों की वर्षावाली होगी। तू निरन्तर क्रियाशील होगा और सुखी जीवनवाला होगा। घ. **अनुष्टुप्**=तू दिन–ब–दिन, अर्थात् सदा प्रभु का स्तवन करनेवाला होगा और तेरे जीवन में शरत् का प्रवेश होगा। जैसे शरत् में सब पत्ते शीर्ण हो जाते हैं उसी प्रकार इस स्तुति से तेरे सारे पाप शीर्ण हो जाएँगे। (ङ) **पङ्क्तिः**=तू पाँचों ज्ञानेन्द्रियों, पाँचों कर्मेन्दियों व पाँचों प्राणों के पञ्चकों से सुरक्षित होगा तो तेरे जीवन में हेमन्त व शिशिर ऋतुओं का उदय होगा, अर्थात् हेमन्त (**हन्ति पाप्मानं, हिनोति वर्धयति बलं वा**)=तेरे रोग व पाप नष्ट होंगे और तेरा बल बढ़ेगा तथा **शिशिरः**=(शश प्लुतगतौ) तू द्रुतगतिवाला होगा। तेरी चाल मन्द न होगी। तू तीव्र गति से आगे बढ़नेवाला बनेगा। ५. अब तीसरे–व–चौथे–वाक्यों का अर्थ यह है कि (क) **रथन्तरम्**=रथन्तर तेरी **साम**=उपासना है और **त्रिवृत्** तेरी **स्तोमः**=स्तुति है। प्रभु की सच्ची उपासना यही है कि मनुष्य रथन्तर=इस शरीररूप रथ से भवसागर को तैरने का यत्न करे और सच्ची स्तुति यही है कि मनुष्य **त्रिवृत्**=शरीर, मन व बुद्धि की त्रिगुण उन्नति करनेवाला हो। (ख) **बृहत्**=बृहत् तेरी **साम**=उपासना है और **पञ्चदशः**=पञ्चदश तेरी **स्तोम** =स्तुति है। **बृहत्** (बृहि वृद्धौ)=निरन्तर वृद्धि–बढ़ना–उन्नति करना ही तेरी उपासना है। पाँचों ज्ञानेन्द्रियों, पाँचों कर्मेन्द्रियों व पाँचों प्राणों को उन्नत करना–इनका अधिपति बनता ही स्तवन है। (ग) **वैरूपम्**=विशिष्ट रूपवाला बनना ही **साम**=उपासना है **सप्तदशः** पाँच प्राण, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ तथा मन और बुद्धि को ठीक रखना ही **स्तोमः**=स्तुति है। (घ) **वैराजम्**=विशिष्ट रूप से चमकना ही **साम**=तेरी उपासना है और **एकविंशः स्तोमः**=शरीर का धारण करनेवाली २१ शक्तियोंवाला होना ही तेरी स्तुति है। (ङ) **शाक्वररैवते**=शक्तिशाली बनना व ज्ञान–धनवाला होना। **सामनी**=तेरी उपासनाएँ हैं और **त्रिणवत्रयस्त्रिंशः**=**(इमे वै लोकास्त्रिणवः**–ता० ६।२।३) **(देवता एव त्रयस्त्रिंशस्या-यतनम्**–ता० १०।१।१६) **(वर्ष्म वै त्रयस्त्रिंशः**–ता० १९।१०।१०) तीन लोक व ३३ देवता ही **स्तोमौ**=तेरी स्तुति हैं, अर्थात् यदि तू शरीररूप पृथिवीलोक को, हृदयरूप अन्तरिक्षलोक

को तथा मस्तिष्करूप द्युलोक को ठीक रखता है और इन्हें अपने-अपने देवताओं से अलंकृत करता है तो तू सच्चा स्तवन कर रहा होता है। ६. इस प्रकार सारे देवताओं का अधिष्ठान बनकर भी तूने इस बात का पूरा ध्यान रखना है कि **नमुचेः**=(न मुचिः, last infirmity of the noble minds) नमुचि को बड़े-बड़े शक्तिशाली भी जीत नहीं पाते, उस अहंकार का **शिरः प्रत्यस्तम्**=सिर कुचल दिया जाए। सम्पूर्ण दैवी सम्पत्तिवाला बनकर भी तुझमें '**नतिमानिता**'=अभिमान का न होना आवश्यक है। यह अभिमान सारे किये-कराये पर पानी फेर देता है।

भावार्थ—राजा सब दिशाओं में उन्नति करके निरभिमानिता से प्रजाओं का कल्याण करने में प्रवृत्त हो।

ऋषिः—वरुणः। **देवता**—परमात्मा। **छन्दः**—विराडार्चीपङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

सोमस्य त्विषिः ओज-सहस-अमृत

सोमस्य त्विषिरसि तवेव मे त्विषिर्भूयात्।
मृत्योः पाह्योजोऽसि सहोऽस्यमृतमसि ॥१५॥

प्रस्तुत मन्त्र का देवता 'परमात्मा' है। उससे प्रार्थना करते हैं कि १. हे परमात्मन्! **सोमस्य त्विषिः असि**=तू चन्द्र की दीप्ति है। चन्द्रमा की दीप्ति में सौन्दर्य यह है कि यह प्रकाशमय है और प्रकाश के साथ शान्ति देनेवाला है। एवं, इसमें दीप्ति व शान्ति का मेल है। **मे**=मेरी **त्विषिः**=दीप्ति **तव इव**=तेरी भाँति ही **भूयात्**=हो। २. हे आत्मन्! **ओजः असि**=तू ओज का पुञ्ज है (splendour, light), प्रकाश का पुञ्ज है। **सहः असि**=सहस् का पुतला है, सहनशक्ति का तू स्वरूप ही है। **अमृतम् असि**=तू अमृत है। मृत्यु से तू परे है। काल का भी तू काल है। आप मुझे भी **मृत्योः पाहि**=मृत्यु से बचाइए। मेरे मस्तिष्क में प्रकाश (ओज) हो, मेरे मन में 'सहस्' हो तथा मेरे शरीर में अमृतत्व=नीरोगता हो। इस प्रकार तीनों क्षेत्रों में स्वस्थ होकर मैं सोम की त्विषिवाला होऊँ।

भावार्थ—मुझे ओज, सहस् तथा अमृतत्व की प्राप्ति हो।

ऋषिः—वरुणः। **देवता**—मित्रावरुणौ। **छन्दः**—स्वराडार्षीजगती। **स्वरः**—निषादः॥

राज्य-निरीक्षण

हिरण्यरूपाऽउषसो विरोकऽउभाविन्द्राऽउदिथः सूर्यश्च। आरोहतं वरुण मित्र गर्तं ततश्चक्षाथामदितिं दितिं च मित्रोऽसि वरुणोऽसि ॥१६॥

१. राष्ट्र में राजा 'मित्र' है, सारी प्रजा को 'प्रमीतेः त्रायते' मृत्यु एवं पापों से बचाने के लिए प्रयत्नशील है तो 'वरुण' सेनापति है, जो राष्ट्र पर होनेवाले शत्रुओं के आक्रमण का निवारण करता है। ये **उभौ**=दोनों **हिरण्यरूपौ**=ज्योर्तिमय रूपवाले हैं। हिरण्य के समान अति तेजस्वी हैं, **इन्द्रौ**=परमैश्वर्यवाले अथवा सामर्थ्य से युक्त हैं। ये दोनों **उषसः विरोके**=रात्रि की समाप्ति पर, उषा के व्युत्थान काल में **उदिथः**=(उद्गच्छतः) उठते हैं। **सूर्यः च** (उदेति)=इसी समय सूर्य भी उदय होता है, जिससे सूर्य के प्रकाश में ये मित्र और वरुण अपना कार्य सुचारुरूपेण कर सकें। २. हे **वरुण**=शत्रु के आक्रमण के वारक सेनापते! **मित्र**=रोगों व पापों से बचानेवाले राजन्! आप दोनों **गर्तं आरोहतम्**=अपने रथ पर अधिरूढ़ हों और **ततः**=तब **अदितिम्**=नियमों के न तोड़नेवाले, मर्यादाओं का पालन करनेवाले,

अदीन, राजनियमों के अनुष्ठाता को-शास्त्रनिर्दिष्ट बातों के करनेवाले को, **दितिं च**=और नियमों के तोड़नेवाले को, नास्तिकवृत्त को 'कोई क़ानून-वानून नहीं है' (नास्तीति) ऐसा मानकर मनमाना आचरण करनेवाले को **चक्षाथाम्**=देखो। 'यह पापी और यह पुण्यवान् है' इस प्रकार आप लोगों का विवेक करनेवाले बनो। 'कौन आर्य है और कौन दस्यु' यह आपको पता हो। ३. ऐसा करने पर ही आप **मित्रः असि**=राष्ट्र को मृत्यु से बचाते हो व **वरुणः असि**=राष्ट्र पर होनेवाले आक्रमणों का निवारण करते हो।

भावार्थ—राजा के मुख्य कार्य दो हैं। पाप व रोगों से बचाना, शत्रुओं के आक्रमण को रोकना। इससे राजा मित्र और वरुण नामवाला होता है। उसे उषःकाल में ही जाग जाना चाहिए और सूर्योदय के साथ ही रथारूढ़ हो राज्य के निरीक्षण में प्रवृत्त हो जाना चाहिए, जिससे वह आर्य व दस्युओं का विवेक कर सके।

ऋषिः—वरुणः। **देवता**—क्षत्रपतिः। **छन्दः**—आर्षीपङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

सोम-अग्नि-सूर्य-इन्द्र

सोमस्य त्वा द्युम्नेनाभिषिञ्चाम्यग्नेर्भ्राजसा सूर्यस्य वर्चसेन्द्रस्येन्द्रियेण क्षत्राणां क्षत्रपतिरेध्यति दिद्यून् पाहि ॥१७॥

१. राज्याभिषेक के समय राजा की चार विशेषताओं का विशेष रूप से ध्यान किया जाता है। पुरोहित कहता है कि **त्वा**=तुझे **सोमस्य**=चन्द्रमा के **द्युम्नेन**=यश से **अभिषिञ्चामि**=अभिषिक्त करता हूँ। चन्द्रमा के प्रकाश में जैसे दीप्ति व शान्ति का समन्वय है उसी प्रकार तेरी तेजस्विता 'शक्ति व शान्ति' के मेल से तुझे राज्याभिषेक के योग्य बनाती है। शक्ति के कारण तू अधृष्य है तो शान्ति के कारण तू अभिगम्य बना है। २. **अग्नेः**=अग्नि की **भ्राजसा**=दीप्ति से **त्वा**=तुझे अभिषिक्त करता हूँ। तू स्वास्थ्य के कारण इस प्रकार चमकता है जैसे आग चमकती है। ३. **सूर्यस्य वर्चसा**=सूर्य-सदृश वर्चस् के कारण मैं तुझे अभिषिक्त करता हूँ। '**प्राणः प्रजानामुदयत्येष सूर्यः**'=सूर्य प्राणशक्ति का पुञ्ज है, तुझमें भी प्राणशक्ति का पूर्ण विकास हुआ है, अतः तुझे राज्याभिषिक्त करता हूँ। ४. **इन्द्रस्य इन्द्रियेण**=इन्द्रियों का अधिष्ठाता होने से तू सब इन्द्रियों की शक्ति से सम्पन्न है, अतः तुझे राज्याभिषिक्त करता हूँ। ५. **क्षत्राणां क्षत्रपतिः एधि**=तू क्षत्रियों में क्षत्रियेश्वर है, बलवानों में बलवान् है। राष्ट्र को आघातों से बचानेवाला है। ६. **दिद्यून्**=इषुओं को, बाणों को, **अति**=लाँघकर **पाहि**=रक्षा कर, अर्थात् हे राजन्! तू शत्रुओं के बाणों से बचाकर हमें सुरक्षित कर।

भावार्थ—राजा वही होने योग्य है जो चन्द्रमा के समान दीप्ति व शान्तिवाला है, अग्नि के समान स्वास्थ्य की दीप्तिवाला है, सूर्य के समान प्राणशक्ति का पुञ्ज है, जितेन्द्रिय पुरुष के बलवाला है। बलवानों से भी बलवान् है, राष्ट्र को सब आक्रमणों से बचाता है।

ऋषिः—देववातः। **देवता**—यजमानः। **छन्दः**—स्वराड्ब्राह्मीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

ऐकमत्येन वरण (Unanimous Voting)

इमं देवाऽअसपत्नꣳसुवध्वं महते क्षत्राय महते ज्यैष्ठ्याय महते जानराज्यायेन्द्रस्येन्द्रियाय। इमममुष्य पुत्रममुष्यै पुत्रमस्यै विशऽएष वोऽमी राजा सोमोऽस्माकं ब्राह्मणानाꣳराजा ॥१८॥

हे **देवाः**=विद्वानो! **इमम्**=इस व्यक्ति को **असपत्नम्**=ऐकमत्य से **सुवध्वम्**=चुनो,

इसलिए कि १. **महते क्षत्राय**=महान् आघात से रक्षणरूप कार्य को वह करे। २. **महते ज्यैष्ठ्याय**=महान् ज्येष्ठता सम्पादनरूप कार्य को करनेवाला वह हो। राष्ट्र को वह ऊँचा ले-जानेवाला हो। ३. **महते जानराज्याय**=महान् जनराज्य के लिए—लोकहित का राज्य करनेवाला हो। ४. **इन्द्रस्य इन्द्रियाय**=इसे इसलिए चुनो कि यह राष्ट्र में प्रत्येक व्यक्ति को शक्तिशाली बनानेवाला हो। ५. **इयम्**=इसको **अमुष्य पुत्रम्**=अमुक व्यक्ति के पुत्र को **अमुष्यै पुत्रम्**=अमुक माता के पुत्र को **अस्यै विशः**=इसी प्रजा के अङ्गभूत व्यक्ति को तुम चुनो। **एषः**=यह **अमी**=हे प्रजाओ! **वः**=तुम्हारा **राजा**=नियन्ता है। **अस्माकं ब्राह्मणानां राजा**=हम ब्राह्मणों का राजा तो **सोमः**=वह शान्त प्रभु ही है। ब्राह्मण किसी भी प्रकार की सम्पत्ति का मालिक नहीं है। वह सब परिग्रहों से ऊपर उठा हुआ होता है। यह पापों से भी ऊपर उठा रहता है, इसी से यह राजा का भी पथ-प्रदर्शन करनेवाला होता है।

भावार्थ—राष्ट्रपति का वरण यथासम्भव ऐकमत्येन होना ही ठीक है। विद्वान् बृहस्पति-तुल्य ब्राह्मण इस राष्ट्रपति का मार्ग-प्रदर्शक होता है। इनसे प्रेरणा प्राप्त करनेवाला राजा यहाँ 'देववात' कहलाता है।

ऋषिः—देववातः। **देवता**—यजमानः। **छन्दः**—विराड्ब्राह्मीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

विक्रमण-विक्रान्ता-क्रान्त

प्र पर्व॑तस्य वृष॒भस्य॑ पृ॒ष्ठान्नाव॑श्चरन्ति स्व॒सिच॑ऽइया॒नाः।
ताऽआव॑वृत्रन्नध॒रागुद॑क्ता॒ऽअहिं॑ बु॒ध्न्यु॒मनु॒ रीय॑माणाः।
विष्णो॑र्वि॒क्रम॑णमसि॒ विष्णो॒र्वि क्रा॒न्तम॑सि॒ विष्णोः॒ क्रा॒न्तम॑सि॥१९॥

१. **पर्वतस्य**=पर्वाणि विद्यन्ते यस्य=अमावास्या-पूर्णिमा आदि पर्वों में तथा प्रतिदिन दिन-रात्रि के पर्वरूप प्रातः-सायं के समय जिसका उद्बोधन किया जाता है उस 'पर्वत' नामवाली **वृषभस्य**=(वर्षितुः—उ०) वर्षा करनेवाली अग्नि के **पृष्ठात्**=पृष्ठ से उठकर **नावः**=(नूयन्ते स्तूयन्ते) स्तुति के योग्य **स्वसिचः**=धनों का सेचन करनेवाले **इयानाः**=गमनशील जल **प्रचरन्ति**=आदित्यमण्डल के प्रति प्राप्त होते हैं। मनु के शब्दों में '**अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते**' अग्नि में डाली हुई आहुतियाँ सूर्य तक पहुँचती हैं। '**स्व-सिचः**' शब्द का अर्थ है 'धनों का सेचन करनेवाले'। समय पर वर्षा होती है तो कृषकों के मुख से भी यह शब्द निकलता है कि 'सोना बरस रहा है'। एवं, ये जल धन का सेचन करते हैं। ये मेघजल **नावः**=स्तुत्य तो हैं ही, ये 'अमरवारुणी' देवताओं की मद्य कहलाते हैं। २. **ताः उदक्ताः**=ऊपर (उत्) आदित्यमण्डल तक गये हुए (अक्ताः) जल **बुध्न्यम्**=(बुध्न=अन्तरिक्ष) अन्तरिक्ष में होनेवाले **अहिम्**=मेघ में **अनुरीयमाणाः**=क्रमशः गति करते हुए **आववृत्रन्**=इस पृथिवी पर लौट आते हैं। ३. इस प्रकार इन जलों की गति आदित्य के आधारभूत द्युलोक में, मेघ के आधारभूत अन्तरिक्षलोक में तथा अग्नि के आधारभूत इस पृथिवीलोक में दिखती है। ये जल शरीर में रेतस्रूप से हैं और स्थूलशरीररूप पृथिवी में ये नीरोगता के कारण होते हैं, मनरूप अन्तरिक्ष में ये नैर्मल्य का कारण बनते हैं और बुद्धि व मस्तिष्करूप द्युलोक में ये उज्ज्वलता का साधन होते हैं। ४. ये रेतस्रूप आपः शरीर में व्याप्त होने पर 'विष्णु' कहलाते हैं। '**यो वै विष्णुः सोमः सः**'—श० ३।३।४।२। '**वीर्यं विष्णुः**'—तै० १।७।२।२। यह 'विष्णु' तीनों लोकों का—शरीर, मन व बुद्धि का—विजय

करता है। यही इसकी 'विक्रमण त्रयी' कही गई है। मन्त्र के ऋषि देववात से कहते हैं कि तू **विष्णोः**=इस सोम के **विक्रमणम्**=पृथिवीलोकरूप विजयवाला है, **विष्णोः**=सोम के **विक्रान्तम् असि**=अन्तरिक्षलोकरूप विजयवाला है और अन्ततः **विष्णोः**=सोम के **क्रान्तमसि**=द्युलोकरूप विजयवाला है। इन सब लोकों का विजय करके तू सब देवताओं को अपनानेवाला होता है—**'विष्णुः सर्वा दैवताः'** ऐ०—१।१, अर्थात् मनुष्य रेतस् की रक्षा के द्वारा सब दिव्य गुणों को प्राप्त करनेवाला होता है।

भावार्थ—प्रत्येक मनुष्य का कर्त्तव्य है कि वह रेतस् की रक्षा द्वारा इन रेतःकणों को शरीर में ही व्याप्त करनेवाला बने और अपने शरीर, मन व बुद्धि को स्वस्थ रखनेवाला हो।

ऋषिः—देववातः। **देवता**—प्रजापतिः। **छन्दः**—भुरिगतिधृतिः। **स्वरः**—षड्जः॥

नाम-स्मरण

प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा रूपाणि परि ता बभूव। यत्कामास्ते जुहुमस्तन्नोऽअस्त्वयममुष्य पिताऽसावस्य पिता वयꣳस्याम पतयो रयीणाꣳस्वाहा। रुद्र यत्ते क्रिवि परं नाम तस्मिन् हुतमस्यमेष्टमसि स्वाहा॥२०॥

गत मन्त्र में रेतस् की रक्षा द्वारा त्रिलोकी के विक्रमण का उपदेश था। उसी को क्रियात्मक रूप देने के लिए प्रभु का स्मरण करते हुए देववात (मन्त्र का ऋषि) कहता है कि १. हे **प्रजापते**=सब प्रजाओं के रक्षक प्रभो! **एतानि तानि**=इन प्रसिद्ध अथवा समीप व सुदूर देश में वर्त्तमान **विश्वा रूपाणि**=सब रूपों को, विविध जातीय प्राणियों व लोकों को **त्वत् अन्यः न**=आपसे भिन्न और कोई नहीं, अर्थात् आप ही **परि बभूव**=व्याप्त कर रहे हो। आप ही इनका सर्जन व संहार करने में समर्थ हो। २. **यत्कामाः**=जिस कामनावाले होकर **ते जुहुमः**=हम आपकी प्रार्थना करते हैं **तत् नः अस्तु**=हमारी वह कामना पूर्ण हो। ३. हम संसार में इस बात को समझें कि **अयम्**=हमारे समीप वर्त्तमान यह प्रजापति ही (तद्दूरे तदु अन्तिके) **अमुष्य**=दूर देश में वर्त्तमान व्यक्ति का भी **पिता**=पिता व रक्षक है और **असौ**=वह दूर-से-दूर देश में वर्त्तमान प्रजापति (तत् दूरे) **अस्य**=इस समीपस्थ व्यक्ति का पिता है। एवं, हम सब उस एक ही प्रजापति के पुत्र हैं और परस्पर भाई-भाई हैं। हमें रुपये का गुलाम बनकर लोभवश परस्पर लड़ना नहीं है। **वयम्**=हम तो **रयीणाम्**=इन धनों के **पतयः स्याम**=स्वामी हों। हम इनके दास न बन जाएँ। हम **स्वाहा**=इस **स्व**=धन का **हा**=त्याग करते हैं। ४. देववात तो यह निश्चय करता है कि हे **रुद्र**=असुर-संहारक प्रभो! **यत्**=जो **ते**=तेरा **क्रिवि**=(हिंसित) सब वासनाओं को विनष्ट करनेवाला **परम्**=उत्कृष्ट **नाम**=नाम है **तस्मिन्**=उस नाम में **हुतम् असि**=तू हमसे हुत होता है, अर्थात् हम तेरे उस नाम में अपने को अर्पित करने का प्रयत्न करते हैं। **अमा**=इस मेरे शरीररूप घर में **इष्टं असि**=आप सदा पूजित होते हो। **स्वाहा**=हम आपके प्रति अपना अर्पण करते हैं। ५. वस्तुतः यह प्रभु नाम-स्मरण ही हमें वासनात्मक जगत् से ऊपर उठाता है। वासना-विजय ही शरीर में रेतस् की रक्षा का साधन बनती है और हमें त्रिलोकी के विजय में समर्थ करती है।

भावार्थ—प्रभु ही सबका धारण कर रहे हैं, वे ही हम सबके पिता हैं। उस प्रभु के नाम-स्मरण में अपने को अर्पित करते हुए हम लोक-त्रयी का विजय करें।

ऋषिः—देववातः। देवता—क्षत्रपतिः। छन्दः—भुरिग्ब्राह्मीबृहती। स्वरः—मध्यमः॥

अरिष्ट-अर्जुन

इन्द्रस्य वज्रोऽसि मित्रावरुणयोस्त्वा प्रशास्त्रोः प्रशिषा युनज्मि।
अव्यथायै त्वा स्वधायै त्वाऽरिष्टो अर्जुनो मरुतां प्रसवेन जयापाम
मनसा समिन्द्रियेण॥२१॥

१. गत मन्त्र के अनुसार प्रभु-नामस्मरण करनेवाले देववात से कहते हैं कि तू **इन्द्रस्य**=उस परमैश्वर्यशाली, सब शत्रुओं के संहारक प्रभु के **वज्रः असि**=वज्रवाला (वज्रम् अस्य अस्तीति वज्रः) है। प्रभु का नाम तेरे लिए वज्रतुल्य बन गया है। इस वज्र से तू अपनी सब वासनाओं का संहार कर पाया है। २. अब **त्वा**=तुझे **प्रशास्त्रोः**=उत्तम प्रशासन करनेवाले **मित्रावरुणयोः**=मित्र और वरुण के, स्नेह की देवता तथा द्वेष-निवारण की देवता के **प्रशिषा**=प्रशासन से **युनज्मि**=युक्त करता हूँ। ३. और इस प्रकार **त्वा**=तुझे **अव्यथायै**=(व्यथ भयचलनयोः) अभय व अविचलन, अर्थात् स्थिरता के लिए प्राप्त कराता हूँ, तथा **स्वधायै त्वा**=(स्व-धा) आत्मधारण के योग्य बनाता हूँ। ४. **अरिष्टः**=किन्हीं भी वासनाओं व रोगों से न हिंसित हुआ तू **अर्जुनः**=उज्ज्वल (श्वेत=शुद्ध) चरित्रवाला हो। ५. **मरुताम्**=प्राणों के **प्रसवेन**=प्रकृष्ट ऐश्वर्य से, अर्थात् उत्कृष्ट प्राण-साधना के द्वारा **जय**=तू चित्तवृत्तिनिरोध से वासना का विजय कर। ६. तुम सदा यह कह सको कि **मनसा**=मन के द्वारा, मन के वशीकरण के द्वारा **अपाम**=हमने सोम का पान किया है और **इन्द्रियेण**=वीर्य से, प्रत्येक इन्द्रिय की शक्ति से **सम्**=हम सङ्गत हुए हैं।

भावार्थ—प्रभु का नाम हमारा वज्र हो। स्नेह व निर्द्वेषता हमारे जीवन का सूत्र हो। हमारा जीवन वासनाओं से अहिंसित व उज्ज्वल हो। हम सोम पान करें, शक्ति से युक्त हों।

ऋषिः—देववातः। देवता—इन्द्रः। छन्दः—विराडार्षीत्रिष्टुप्। स्वरः—धैवतः॥

नास्तिकता का वि-दसन

मा तऽइन्द्र ते वयं तुराषाडयुक्तासोऽअब्रह्मता विदसाम।
तिष्ठा रथमधि यं वज्रहस्ता रश्मीन्देव यमसे स्वश्वान्॥२२॥

१. हे **इन्द्र**=सब शत्रुओं के संहारक प्रभो! **तुराषाट्**=(तूर्ण सहते) शीघ्रता से शत्रुओं का पराभव करनेवाले प्रभो! **वयम्**=हम सब **ते**=तेरे हों और **ते अयुक्तासः**=आपसे अपने को न जोड़नेवाले **मा**=न हों। हम सदा अपनी चित्तवृत्ति को विषयों से व्यावृत्त करके आपके साथ लगाएँ। २. **अब्रह्मता**=(अब्रह्मतां) नास्तिकवृत्तिता को, 'संसार का सञ्चालक ईश्वर कोई नहीं है', इस आसुरी विचारधारा को (जगदाहुरनीश्वरम्—गीता) **विदसाम**=हम विशेषरूप से नष्ट कर दें। हममें अनीश्वरता की भावना कभी उत्पन्न न हो। ३. **रथं तिष्ठ**=मैं उस शरीररूप रथ में बैठूँ **वज्रहस्त यं अधि**=हे वज्रहस्त प्रभो! जिसके अधिष्ठाता आप हैं। प्रभु ही मेरे शरीररूप रथ के सञ्चालक हों। ऐसा होने पर क्या कोई वासना मेरी यात्रा को विहत कर पाएगी? वे प्रभु तो वज्रहस्त हैं, काम को भस्म करने के लिए उनका तो नाम ही पर्याप्त है। ४. **देव**=हे सब विघ्नों के विजेता प्रभो! आप ही मेरे इस शरीररूप रथ पर स्थित हुए-हुए **रश्मीन्**=लगामों को **यमसे**=काबू करते हैं। आप ही **अश्वान्**=इन मेरे इन्द्रिय-रूप अश्वों को **सुयमसे**=उत्तमता से काबू करते हैं। वस्तुतः प्रभु-नामस्मरण हमें इस योग्य बनाता है कि

हमारा मन विषय-व्यावृत्त हो पाये और हम इन्द्रियों को विषयपङ्क से मलिन न होने दें।

भावार्थ—हम ईश्वर के हों। अनीश्वरवाद हमारे नाश का कारण बनता है। वे प्रभु ही वज्रहस्त हैं, हमारे शत्रुओं का शीघ्रता से विनाश करनेवाले हैं।

ऋषिः—देववातः। **देवता**—अग्न्यादयो मन्त्रोक्ताः। **छन्दः**—जगती। **स्वरः**—निषादः॥

पारस्परिक अहिंसन

अग्नये गृहपतये स्वाहा सोमाय वनस्पतये स्वाहा मरुतामोजसे स्वाहेन्द्रस्येन्द्रियाय स्वाहा। पृथिवि मातर्मा मा हिꣳसीर्मोऽअहं त्वाम्॥२३॥

देववात प्रार्थना करता है कि गत मन्त्र के अनुसार मैं अपने शरीर-रूप रथ की लगाम प्रभु के हाथों में सौंपनेवाला बनूँ, और अपनी इस जीवन-यात्रा में १. **अग्नये**=निरन्तर आगे बढ़ने के लिए तथा **गृहपतये** =इस शरीर-रूप गृह का उत्तम रक्षक बनने के लिए **स्वाहा**=उस प्रभु के प्रति अपना अर्पण करूँ। यह प्रभु के प्रति अर्पण मुझे 'अग्नि' बनाएगा। २. **सोमाय**=सौम्य स्वभाव का बनने के लिए अथवा सोम (वीर्य) शक्ति का पुञ्ज बनने के लिए और परिणामतः **वनस्पतये**=ज्ञान की रश्मियों का पति बनने के लिए **स्वाहा**=मैं उस प्रभु के प्रति अर्पण करता हूँ। यह प्रभु-अर्पण मुझे 'सोम' बनाएगा, यह प्रभु-अर्पण मुझे 'वनस्पति' बनाएगा। ३. **मरुताम्**=प्राणों के **ओजसे**=ओज के लिए **स्वाहा**=मैं उस प्रभु के प्रति अपना अर्पण करता हूँ, अर्थात् प्रभु-चरणों में बैठना मुझे वासनाओं से बचाकर ओजस्वी बनाता है, मैं प्राणशक्ति-सम्पन्न होता हूँ। ४. **इन्द्रस्य**=जितेन्द्रिय पुरुष की **इन्द्रियाय**= प्रत्येक इन्द्रिय की शक्ति-सम्पन्नता के लिए **स्वाहा**=मैं प्रभु के प्रति अपना अर्पण करता हूँ। ५. **मा**=इस अर्पण करनेवाले मुझको हे **पृथिवि मातः**=मातृतुल्य पृथिवि! **मा हिंसीः**=मत हिंसित कर। यद्यपि शरीर पञ्चभौतिक है तथापि पृथिवीतत्त्व की प्रधानता के कारण इसे पार्थिव कहने की परिपाटी है, अतः उस पृथिवीतत्त्व को ही मुख्यता देते हुए कहते हैं कि तू मेरे अनुकूल हो। **उ**=और **अहम्**=मैं **त्वाम्**=तुझे **मा**=मत हिंसित करूँ। मैं अतिभोजनादि व विषयासक्ति के कारण इस पार्थिव शरीर को विकृत करनेवाला न होऊँ। प्रभु के प्रति अर्पण का यह परिणाम तो होगा ही। उस 'महान् देव' प्रभु से निरन्तर प्रेरणा (वात) प्राप्त करके यह 'देववात' निश्चित रूप से ही अहिंसित होगा।

भावार्थ—'हम अग्नि, गृहपति, सोम, ज्ञानी, ओजस्वी व इन्द्र' बनें।

ऋषिः—वामदेवः। **देवता**—सूर्यः। **छन्दः**—भुरिग्जगती। **स्वरः**—निषादः॥

हंसः

हꣳसः शुचिषद्वसुरन्तरिक्षसद्धोता वेदिषदतिथिर्दुरोणसत्।
नृषद्वरसदृतसद्व्योमसदब्जा गोजाऽऋतजाऽअद्रिजाऽऋतं बृहत्॥२४॥

२२वें मन्त्र में अपने को प्रभु से अयुक्त न करने की भावना थी। जब हम सदा प्रभु का स्मरण करते हैं, प्रभु-स्मरण के साथ ही हमारी सब क्रियाएँ होती हैं तब वे प्रभु हमारे लिए १. **हंसः**=(हन्ति पापानाम्) सब पापों को नष्ट करनेवाले होते हैं। पापों के नाश से हमारा जीवन शुचि=पवित्र होता है और वे प्रभु **शुचिषत्**=हमारे पवित्र हृदयों में निवास करनेवाले होते हैं। २. जब मैं अपने हृदय में प्रभु के निवास को अनुभव करता हूँ तब **वसुः**=(वासयति) वे प्रभु मेरे जीवन को उत्तम बना देते हैं। उत्तम जीवन वही है जो

सीमाओं को छोड़कर सदा मध्य-मार्ग का अवलम्बन करता है। **अन्तरिक्षसत्**=प्रभु का निवास उसी में है जो **'अन्तराक्षि'**=मध्य में गति करता है (क्षि=गति)। योग इसी मध्य मार्ग पर चलनेवाले का कल्याण करता है। सितार के तार को अधिक कसा जाए तो वह टूट जाता है, ढीला छोड़ दिया जाए तो स्वर ही नहीं निकलता। न बहुत कसा जाए और न बहुत ढीला छोड़ा जाए तभी मधुर स्वर निकलता है। इस मध्य मार्ग में रहने व चलनेवाले में प्रभु का निवास है। ३. **होता**=वे प्रभु ही सब-कुछ देनेवाले हैं और **वेदिषत्**=जो व्यक्ति अपने इस शरीर को यज्ञवेदी बना देता है उसी में प्रभु का निवास होता है। सब-कुछ देनेवाले वे प्रभु हैं तो हमें लोभ करना ही क्यों? लोभ को छोड़कर हम यज्ञवृत्ति को अपनाएँ और प्रभु के निवास-स्थान बनें। ४. **अतिथिः**=वे प्रभु तो 'अत् सातत्यगमने'=हमें निरन्तर प्राप्त होनेवाले हैं। **दुरोणसत्**=(दुर=बुराई ओणृ अपनयने) बुराई को दूर करनेवाले में बैठनेवाले हैं। 'दुरोण' शब्द गृहवाची है, क्योंकि यह हमें सर्दी-गर्मी, वर्षा-ओले आदि से बचाता है। इसी प्रकार अपने को वासनाओं से बचानेवाला व्यक्ति भी 'दुरोण' है।

५. **नृषत्**=वह प्रभु 'नृषु सीदति'=अपने को आगे ले-चलनेवालों में निषण्ण होता है। ६. **वरसत्** =वह प्रभु श्रेष्ठ व्यक्तियों में आसीन होते हैं ७. **ऋतसत्**=जो भी ऋत का पालन करते हैं वे प्रभु का निवास-स्थान बनते हैं। ८. **व्योमसत्**=वे प्रभु उस व्यक्ति में निवास करते हैं जो कि **वी+ओम्**=(वी गति, अव रक्षणे) सदा क्रियाशीलता के द्वारा अपना बचाव करता है। क्रियाशीलता के परिणामस्वरूप शुद्ध बना रहता है। ९. **अब्जाः**=(अप्सु जायते) वे प्रभु जलों में प्रकट होते हैं। **'यस्येमे हिमवन्तो महित्वा यस्य समुद्रं रसया सहाहुः'** ये हिमाच्छादित पर्वत, समुद्र व पृथिवी उस प्रभु की महिमा को प्रकट कर रहे हैं। १०. **गोजाः**=(गवि जायते) वे प्रभु इस पृथिवी के अनन्त विस्तृत मैदानों, वनों व पर्वतों में प्रकट होते हैं, उन स्थानों पर उस प्रभु की महिमा दिखती है। ११. **ऋतजाः**=वे सूर्य, चन्द्र, तारे व अन्य लोक-लोकान्तरों की नियमित गति में प्रकट होते हैं। १२. **अद्रिजाः**=गगनचुम्बी घाटियोंवाले, ध्रुवता से स्थित (अविदारणीय) पर्वतों में वे प्रभु प्रकट होते हैं। १३. वे प्रभु **ऋतम्**=सत्य हैं, **बृहत्**=सदा वर्धमान हैं (वर्धमानं स्वे दमे)।

भावार्थ—हम इस सृष्टि में प्रभु की महिमा को देखें। जीवन को पवित्र बनाकर प्रभु के निवास-स्थान बनें। हम अनुभव करें कि वे प्रभु सत्य हैं, वे सदा वृद्ध हैं। इस प्रकार जीवन बनाते हुए हम 'वामदेव' सुन्दर दिव्य गुणोंवाले हों।

ऋषिः—वामदेवः। **देवता**—सूर्यः। **छन्दः**—जगती। **स्वरः**—निषादः॥

एतावानस्य महिमा

इय॑दस्यायु॒रस्यायु॑र्मयि॑ धेहि यु॒ङ्ङ॑सि॒ वर्चो॑ऽसि॒ वर्चो॒ मयि॑ धेह्यू॒र्गस्यूर्ज॑ मयि॑ धेहि। इन्द्र॑स्य॒ वां वीर्य॒कृतौ॑ बा॒हूऽअ॑भ्यु॒पाव॑हरामि॥२५॥

१. वामदेव प्रभु-आराधन करता हुआ कहता है कि **'इयत् असि'**=आप 'एतावान् अस्य महिमा' इन शब्दों के अनुसार इतनी महिमावाले हैं। गत मन्त्र के शब्दों में 'जलों में, पृथिवी में, पर्वतों में' सर्वत्र उसी की महिमा है। इस जड़-जगत् के कण-कण में प्रभु की महिमा है, २. चेतन जगत् में भी **आयुः असि**=आप सबको जीवन देनेवाले हैं। **मयि आयुः धेहि**=मुझमें जीवन का आधान कीजिए। आपकी कृपा से मैं दीर्घायुष्य प्राप्त करूँ। ३. **युङ् असि**=इस दीर्घ जीवन में आप हमें उस-उस कार्य में प्रेरित करनेवाले हैं। हम कभी-कभी

असफलता से निराश होकर कर्म छोड़ बैठते हैं तो आप हमें उत्साहित व शक्ति-सम्पन्न करके फिर कार्य-व्यापृत करते हैं। ४. **वर्चः असि**=आप शक्ति के पुञ्ज हैं। **मयि वर्चः धेहि**=मुझमें शक्ति का आधान कीजिए। **ऊर्क् असि**=आप (ऊर्ज् बलप्राणनयोः) बल और प्राण-शक्ति के आधार हैं। **ऊर्जं मयि धेहि**=मुझमें बल और प्राण-शक्ति को धारण कीजिए। ५. इस प्रकार प्रभु की आराधना से शक्ति-सम्पन्न होकर वामदेव अपनी भुजाओं को सम्बोधित करके कहता है कि **वाम्**=आप दोनों को जो आप **वीर्यकृतः**=शक्ति-उत्पन्न करनेवाले **इन्द्रस्य**=सब शत्रुओं के संहारक प्रभु की **बाहू**=प्रयत्नशील (बाह प्रयत्ने) भुजाएँ हो, उन आपको **अभि+उप+अवहरामि**=प्रभु की समीपता में विषयों से दूर कर्मों की ओर ले-चलता हूँ, अर्थात् मैं प्रभु का स्मरण करते हुए, विषयपङ्क से अलिप्त रहते हुए कर्मों में लगा रहता हूँ। वामदेव=सुन्दर दिव्य गुणोंवाला बनने का यही तो मार्ग है।

भावार्थ—प्रभु के सम्पर्क से हमें 'आयु, वर्चस् व ऊर्ज्' प्राप्त होता है। प्रभु-स्मरण करते हुए शक्ति-सम्पन्न बनकर हम सदा भुजाओं को कार्यव्यापृत रक्खें।

ऋषिः—वामदेवः। **देवता**—आसन्दी राजपत्नी। **छन्दः**—भुरिगनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

स्योना-सुषदा

स्योनासि सुषदासि क्षत्रस्य योनिरसि।
स्योनामासीद सुषदामासीद क्षत्रस्य योनिमासीद॥२६॥

गत मन्त्र की भावना के अनुसार प्रभु-स्मरण से शक्ति-सम्पन्न बनकर निरन्तर क्रिया करनेवाला व्यक्ति इस पृथिवी को बड़ा सुन्दर बनाता है। मन्त्र में कहते हैं कि १. हे पृथिवि! तू **स्योना असि**=सुखरूप है। प्रयत्नशील व्यक्ति के लिए पृथिवी सुखरूप है ही। २. **सु-सदा असि**=सुख से बैठने के योग्य है (सुखेन सीदन्ति यस्याम्)। श्रमशील लोग तेरे आश्रय से जीवन व्यतीत करते हैं। ३. **क्षत्रस्य योनिः असि**=क्रियाशीलता के द्वारा बल का तू कारण है। इस पृथिवी पर निवास करते हुए हम यदि क्रियाशील बनते हैं तो शक्ति-सम्पन्न भी होते हैं। क्रियाशीलता व शक्ति आनुपातिक हैं। ४. वामदेव से कहते हैं कि हे वामदेव! तू **स्योनाम्**=इस सुखरूप पृथिवी पर **आसीद**=आसीन हो। **सु-षदाम् आसीद**=सुख से बैठने योग्य इस पृथिवी पर आसीन हो। **क्षत्रस्य योनिम्**=बल की कारणभूत इस पृथिवी पर **आसीद**=आसीन हो।

भावार्थ—यह पृथिवी सुखरूप है, सुख से बैठने योग्य है, शक्ति का स्रोत है। निरन्तर क्रियाशीलता के द्वारा 'वामदेव' पृथिवी को ऐसा ही बना लेता है।

ऋषिः—शुनःशेपः। **देवता**—वरुणः। **छन्दः**—पिपीलिकामध्याप्रतिष्ठागायत्री। **स्वरः**—षड्जः॥

धृतव्रतः

निषसाद धृतव्रतो वरुणः पस्त्यास्वा। साम्राज्याय सुक्रतुः॥२७॥

१. उल्लिखित मन्त्रों में वर्णित 'वामदेव' लोगों में से चुना जाकर (वरुण) जीवन को उत्तमता से व्यवस्थित करने के लिए सिंहासन पर बिठाया जाता है। इसने उत्तम शासन के द्वारा सुख का निर्माण करना होता है, अतः यह 'शुनःशेप' (शुनम्=सुख, शेप=बनाना, to make) कहलाता है। २. यह शुनःशेप **पस्त्यासु**=प्रजाओं में से ही चुना जाकर **धृतव्रतः**=धारण किये हुए व्रतवाला **वरुणः**=श्रेष्ठ व्यक्ति **आ निषसाद**=सब व्यक्तियों की ओर से

सिंहासन पर बैठता है। 'प्रजा का कल्याण' यह इसका व्रत होता है। अपने जीवन को भी यह बड़ा संयमी बनाकर 'वरुण'=व्रत-बन्धनों में अपने को बाँधता है। ३. यह सिंहासन पर **साम्राज्याय**=साम्राज्य के लिए आसीन होता है। यह राजा बनकर सचमुच देश को बड़ा व्यवस्थित कर देता है। उत्तम व्यवस्था से राज्य में चोरी आदि सब बुराइयाँ समाप्त हो जाती हैं और राज्य चमक उठता है, देश की सर्वांगीण उन्नति होती है। ४. **सुक्रतुः**=यह राजा उत्तम संकल्पों व कर्मोंवाला है साथ ही उत्तम प्रजावाला भी होता है (क्रतु=संकल्प, कर्म, प्रज्ञा)। इस प्रज्ञा की तीव्रता व संकल्प की दृढ़ता से यह राज्य को एक साम्राज्य बना देता है। यह उसे ऐसा बनाने के लिए 'धृत-व्रत' होता है।

भावार्थ—राजा को 'धृत-व्रत व सुक्रतु' होना चाहिए, जिससे उसका राज्य साम्राज्य में परिवर्तित हो जाए।

ऋषिः—शुनःशेप। **देवता**—यजमानः। **छन्दः**—विराड्धृतिः। **स्वरः**—ऋषभः॥

अभिभूः

अभिभूरस्येतास्ते पञ्च दिशः कल्पन्तां ब्रह्मँस्त्वं ब्रह्मासि सवितासि सत्यप्रसवो वरुणोऽसि सत्यौजाऽइन्द्रोऽसि विशौजा रुद्रोऽसि सुशेवः।
बहुकार श्रेयस्कर भूयस्करेन्द्रस्य वज्रोऽसि तेन मे रध्य॥२८॥

१. गत मन्त्र की भावना के अनुसार जो 'धृतव्रत व सुक्रतु' होता है वह **'अभिभूः असि'**=सब शत्रुओं का पराभव करनेवाला होता है। **एताः**=वे **पञ्च दिशः**=पाँचों दिशाएँ **ते**=तेरे लिए **कल्पन्ताम्**=शक्तिशाली बनें। 'प्राची-दक्षिणा-प्रतीची-उदीची व ऊर्ध्वा' इन पाँच दिशाओं का उल्लेख इसी अध्याय में १० से १४ तक के मन्त्रों में हुआ है। यहाँ उन दिशाओं का दूसरे प्रकार से उल्लेख हुआ है। २. दसवें मन्त्र में प्राची दिशा का द्रविण 'ब्रह्म' कहा गया है। यहाँ कहते हैं कि हे **ब्रह्मन्**=ज्ञान-सम्पन्न **त्वम्**=तू **ब्रह्मा**=चतुर्वेदवेत्ता है, ज्ञानी है। **सविता असि**=(षु=ऐश्वर्य) तू ज्ञानरूप सच्चे ऐश्वर्यवाला है। ३. **सत्यप्रसवः वरुणः**=तू सत्य की प्रेरणा देनेवाला **असि**=है। **'ये ते पाशा वरुण सप्तसप्त त्रेधा तिष्ठन्ति विषिता रुशन्तः। छिनन्तु सर्वे अनृतं वदन्तं यः सत्यवाद्यति तं सृजन्तु'**=वरुण असत्यवादी को अपने पाशों से बाँध डालता है। सत्यवादी ही वरुण के पाशों से बच पाता है। तू **सत्यौजाः**=सत्य के ओजवाला है। ११वें मन्त्र में दक्षिणा दिशा का द्रविण **'क्षत्र'**= बल ही कहा गया है। यह वरुण भी निर्द्वेषता के कारण तथा अपने को व्रतों के बन्धन में बाँधने के कारण ओजस्वी है। सच्चे ओजवाला है। ४. **इन्द्रः असि**=तू इन्द्रियों का अधिष्ठाता है। १२वें मन्त्र में प्रतीची के आरोहण का अभिप्राय यही है कि यह इन्द्रियों को विषयों से व्यावृत्त करता है, इन्द्रियों का अधिष्ठाता बनता है और **विशौजाः**=प्रजा के ओजवाला अथवा दूसरे शब्दों में ओजस्वी प्रजावाला होता है। इस दिशा का द्रविण १२वें मन्त्र में 'विट्'=प्रजा ही है। ५. **रुद्रोऽसि**=(रोरूयमाणो द्रवति) यह प्रभु का स्मरण करते हुए कार्यव्यापृत होता है। १३वें मन्त्र में इसे 'अनुष्टप्'=प्रतिक्षण प्रभु का स्तवन करनेवाला कहा गया है। इसी कारण यह **'सुशेवः'**=उत्तम कल्याणवाला होता है। ६. अन्त में यह **इन्द्रस्य वज्रोऽसि**=उस प्रभु के वज्रवाला है। प्रभु ही इसके वज्र हैं। १४वें मन्त्र में इसी वज्र से नमुचि नामक असुर के शिरश्छेदन का उल्लेख है। यह प्रभु को ही अपना वज्र बनाता है, परन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि यह निकम्मा हो जाता है। स्वयं अकर्मण्य न होकर

बहुकार=यह ख़ूब ही करनेवाला होता है, **श्रेयस्कर**=शुभ कार्यों को करनेवाला होता है। **भूयस्कर**=निरन्तर उत्तम क्रियाओं में लगा रहता है। **तेन**=उससे, क्योंकि मैं कर्मव्यापृत हूँ और प्रभु का नाम-स्मरण कर रहा हूँ, अतः **मे रध्य**=मेरे शत्रुओं को मेरे वशीभूत कीजिए। सब शत्रुओं को अभिभूत करके मैं सचमुच 'अभिभूः' बनूँ।

भावार्थ—मैं ज्ञानी बनूँ, सत्य के ओजवाला होऊँ, ओजस्वी प्रजावाला तथा उत्तम कल्याण को प्राप्त करनेवाला बनूँ। प्रभु ही मेरे वज्र हों। मैं क्रियाशील रहता हुआ सब शत्रुओं को अपने वश में कर सकूँ।

ऋषिः—शुनःशेपः। **देवता**—अग्निः। **छन्दः**—स्वराडार्षीजगती। **स्वरः**—निषादः॥

सजातों में मध्यमेष्ठ

अग्निः पृथुर्धर्मणस्पतिर्जुषाणोऽअग्निः पृथुर्धर्मणस्पतिराज्यस्य वेतु स्वाहा। स्वाहाकृताः सूर्यस्य रश्मिभिर्यतध्वꣳसजातानां मध्यमेष्ठ्याय॥२९॥

गत मन्त्र का 'अभिभूः'=सब शत्रुओं का अभिभव करनेवाला १. **अग्निः**=निरन्तर आगे बढ़ता है। २. **पृथुः**=(प्रथ विस्तारे) अपनी शक्तियों का विस्तार करता है। ३. **धर्मणः पतिः**=सदा धर्म का रक्षक होता है। ४. **जुषाणः**=अपने धर्म का प्रीतिपूर्वक सेवन करता है। ४. यह 'अग्नि, पृथु व धर्मणस्पति' **आज्यस्य**=घृत का **वेतु**=पान करे। 'घृतमायुः' इस वाक्य में घृत को उत्तम जीवन का कारण कहा गया है। अथवा 'घृत' का अभिप्राय 'क्षरण व दीप्ति' है। यह मलों का क्षरण करनेवाला हो और दीप्ति प्राप्त करे। ५. इसके लिए यह **स्वाहा**=स्वार्थ का त्याग करनेवाला हो। ६. इन स्वार्थ-त्याग करनेवालों से कहते हैं कि हे **स्वाहाकृताः** =स्वार्थ-त्याग करनेवालो! तुम **सूर्यस्य रश्मिभिः**=सूर्य-किरणों के साथ **यतध्वम्**=यत्नशील बनो। सूर्योदय के साथ ही कर्त्तव्य-कर्मों में व्यापृत हो जाओ और जब तक ये किरणें रहती हैं, अर्थात् सूर्यास्त तक कर्मों में लगे रहो। ३. **सजातानाम्**=समानरूप से उत्पन्न हुए लोगों में **मध्यमेष्ठ्याय**=मध्यम स्थान में अवस्थित होने के लिए यही मार्ग है। जैसे राजा केन्द्र में अवस्थित होता है और मन्त्रिवर्ग उसके दायें-बायें स्थित होते हैं, उसी प्रकार यह सूर्य-किरणों के साथ कार्य-व्यापृत व्यक्ति अपने सजातों के मध्य-स्थान में स्थित होता है, अर्थात् अपने सजातों में श्रेष्ठ बनता है।

भावार्थ—हम 'अग्नि-पृथु-धर्मणस्पति' बनकर मलों का क्षरण करें और दीप्ति प्राप्त करें। स्वार्थ की भावना से ऊपर उठकर निरन्तर क्रिया में लगे रहें और इस प्रकार अपने सजातों में श्रेष्ठ बनें।

ऋषिः—शुनःशेपः। **देवता**—सवित्रादिमन्त्रोक्ताः। **छन्दः**—भुरिग्ब्राह्मीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

देवतया-प्रसूतः

सवित्रा प्रसवित्रा सरस्वत्या वाचा त्वष्ट्रा रूपैः पूष्णा पशुभिरिन्द्रेणास्मे बृहस्पतिना ब्रह्मणा वरुणेनौजसाऽग्निना तेजसा सोमेन राज्ञा विष्णुना दशम्या देवतया प्रसूतः प्रसर्पामि॥३०॥

इस मन्त्र का मुख्य वाक्य यह है कि **देवतया**=देवता से **प्रसूतः**=(प्रेरितः) प्रेरित हुआ-हुआ **प्रसर्पामि**=मैं अपनी इस जीवन-यात्रा में आगे और आगे बढ़ता हूँ। 'किन-किन देवताओं से और किस-किस दृष्टिकोण से प्रेरित हुआ-हुआ', इस प्रश्न का उत्तर निम्न

वाक्यों में द्रष्टव्य है—१. **सवित्रा**=सविता देव से, सूर्य से **प्रसवित्रा**=प्रकृष्ट प्रेरणा के दृष्टिकोण से प्रेरित हुआ-हुआ मैं आगे और आगे चलता हूँ। सूर्य मुझे तीन वाक्यों में यह उत्कृष्ट प्रेरणा दे रहा है कि (क) मेरी तरह आगे और आगे बढ़ते चलो, (ख) स्तुति-निन्दा से विचलित न होओ (ग) तुम्हारी सब क्रियाएँ बिना पक्षपात के हों। मैं राजा व रंक दोनों के भवनों व झोंपड़ों में समानरूप से प्रकाश प्राप्त कराता हूँ। तूने भी बिना भेदभाव के अपना व्यवहार करना। २. **सरस्वत्या**=विद्या की अधिदेवता सरस्वती से **वाचा**=वाणी के दृष्टिकोण से, ज्ञान की वाणी के हेतु से प्रेरित हुआ-हुआ मैं चलता हूँ। सरस्वती की प्रेरणा यही है कि कण-कण ज्ञानसंग्रह करके तथा एक-एक क्षण का उपयोग करते हुए तूने जीवन-यात्रा में चलना। ३. **त्वष्ट्रा**=त्वष्टा से **रूपैः**=रूपों के दृष्टिकोण से प्रेरित हुआ-हुआ मैं चलता हूँ। त्वष्टा देवशिल्पी है, यह गर्भस्थ बालक के अङ्ग-प्रत्यङ्ग को सुरूप बनाता है। यह यही प्रेरणा देता है कि अपने स्वास्थ्य का पूर्ण ध्यान करते हुए उत्तम रूपवाले बने रहना। हम स्वस्थ रहें और उत्तम रूपवाले बने रहें। ४. **पूषणा**=पूषादेवता से **पशुभिः**=पशुओं के दृष्टिकोण से प्रेरित हुआ-हुआ मैं चलता हूँ। पोषण की देवता 'पूषा' है। यह एक ही बात कहती है कि घर में गौ आदि पशुओं को अवश्य रखना। गौ के बिना सबका समुचित पोषण सम्भव नहीं। गौ ही दुग्धादि से समुचित पोषण करती हुई हमें 'वसु, रुद्र व आदित्य' बनाती है। ५. **इन्द्रेण**=परमैश्वर्यशाली प्रभु से, देवराट् से, **अस्मे**='हमारा ही बने रहना' इस प्रकार प्रेरणा लेता हुआ मैं जीवन-यात्रा में चलता हूँ। प्रभु कहते हैं कि संसार में विषयों में उलझकर हमें भुला न देना। हम संसार में रहें, पर प्रभु को भूल न जाएँ। ६. **बृहस्पतिना**=सर्वोच्च दिशा के, ऊर्ध्वा के, अधिपति बृहस्पति से **ब्रह्मणा**=बड़ा बनने के दृष्टिकोण से प्रेरित हुआ-हुआ मैं चलता हूँ। बृहस्पति यही कहते हैं कि संसार में बड़ा बनने का प्रयत्न करना, कोई-न-कोई निर्माण का कार्य अवश्य करना—यही ब्रह्म बनने का मार्ग है। ब्रह्मा (creator) निर्माता है। ७. **वरुणेन**=वरुणदेव से **ओजसा**=ओजस्वी बनने के हेतु से प्रेरित हुआ-हुआ मैं चलता हूँ। वरुण देव मुझे यही कह रहे हैं कि द्वेष का निवारण करना, व्रतों के बन्धन में अपने को बाँधना, जिससे तुम ओजस्वी बन सको। द्वेषाग्नि में जलता हुआ अनियन्त्रित जीवनवाला व्यक्ति ओजस्वी नहीं होता। ८. **अग्निना**=अग्निदेव से **तेजसा**=तेज के दृष्टिकोण से प्रेरित हुआ-हुआ मैं चलता हूँ। अग्नि मुझे यही कह रही है कि जैसे मैं अपने तेज से सब मलों को भस्म कर देती हूँ, उसी प्रकार तूने सब मलों का दहन करते हुए संसार में आगे बढ़ना। ९. **सोमेन**=सोमदेवता से **राज्ञा**=(राजृ दीप्तौ) दीप्त, यशस्वी (glorious) जीवन बिताने के लिए प्रेरित हुआ-हुआ मैं जीवन-यात्रा में आगे बढ़ता हूँ। सोम मानो मुझे यही कह रहा है कि मेरी रक्षा करते हुए स्वस्थ-शरीर, निर्मल-मन व तीव्र बुद्धिवाला होकर उज्ज्वल जीवनवाला बनना (सोम=वीर्य)। इस उज्ज्वल जीवन में सौम्यता हो, उग्रता न हो। १०. अब **दशम्या**=दशमी देवता **विष्णुना** =विष्णु से प्रेरित हुआ-हुआ मैं सब व्यवहार करता हूँ। इस देवता की प्रेरणा यही है कि 'विष् व्याप्तौ' व्यापक दृष्टिकोणवाला बनना, उदार हृदयवाला बनना। संकुचित मनोवृत्तिवाला न बन जाना। तेरा सारा व्यवहार विशालता, उदारता को लिये हुए हो। **'उदारं धर्ममित्याहुः'**=यह उदारता ही धर्म है।

भावार्थ—हमारा जीवन देवों के आशीर्वाद से प्रेरणा लेकर चले। प्रेरणा यह है—**सूर्य**—आगे बढ़ो, स्तुति-निन्दा से विचलित न होओ, बिना पक्षपात के तुम्हारा व्यवहार हो। **सरस्वती**—अधिक-से-अधिक ज्ञानवाणियों का उपादान करना। **त्वष्टा**—स्वास्थ्य से सुरूप रहना। **पूषा**—घर में गौ अवश्य रखनी। गौ का स्थान कुत्ता न ले-ले। **इन्द्र**—प्रभु का ही बने

रहना। **बृहस्पति**—बड़ा बनना। **वरुण**—ओजस्वी बनना। **अग्नि**—तेजस्वी होना। **सोम**—यशस्वी होना। **विष्णु**—उदार बनना।

ऋषिः—शुनःशेपः। **देवता**—क्षत्रपतिः। **छन्दः**—आर्षीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

प्रभु का सतत मित्र

अश्विभ्यां पच्यस्व सरस्वत्यै पच्यस्वेन्द्राय सुत्राम्णे पच्यस्व।
वायुः पूतः पवित्रेण प्रत्यङ्क्सोमो अतिस्तुतः। इन्द्रस्य युज्यः सखा॥३१॥

१. गत मन्त्र के अनुसार देवों से प्रेरणा प्राप्त करके जब हम अपनी जीवन-यात्रा में चलेंगे तो यात्रा के अन्तिम प्रयाण=पड़ाव तक पहुँचेंगे। यह अन्तिम प्रयाण प्रस्तुत मन्त्र की समाप्ति पर 'इन्द्रस्य युज्यः सखा' इन शब्दों में कहा गया है। हे जीव! अब तो तू उस **इन्द्रस्य**=परमैश्वर्यशाली, सर्वशक्तिमान् प्रभु का **युज्यः** =सदा साथ रहनेवाला **सखा**=मित्र हो गया है। २. ऐसा बनने के लिए तू **अश्विभ्याम्**=प्राणापान के लिए **पच्यस्व** =अपना परिपाक कर। प्राणापान की साधना में अपने को परिपक्व कर। प्राणायाम के दैनन्दिन अभ्यास से तू इन्हें अपने वश में करनेवाला बन। ३. **सरस्वत्यै**=विद्या की अधिदेवता के लिए **पच्यस्व**=तू अपना परिपाक कर। ज्ञानाग्नि में अपने को परिपक्व करके वैदुष्य प्राप्त कर। ४. इस प्रकार प्राण व ज्ञान की अग्नि में अपने को परिपक्व करता हुआ तू **सुत्राम्णे**= अत्यन्त उत्तम रक्षक **इन्द्रस्य**=परमैश्वर्यवान्, सर्वशत्रुसंहारक प्रभु के लिए **पच्यस्व**=परिपक्व बन। प्राण-साधना और ज्ञान-प्राप्ति ही तुझे प्रभु-प्राप्ति-क्षम करेंगी। ५. प्रभु-प्राप्ति के मार्ग पर चलता हुआ तू **वायुः**=(वा गतिगन्धनयोः) गति के द्वारा सब बुराइयों का हिंसन करनेवाला होगा। क्रियाशील बना रहकर तू अपने में मलिनता को न आने देगा। ६. और वस्तुतः **पवित्रेण पूतः**=तू ज्ञान से निरन्तर पवित्र किया जा रहा होगा। ज्ञानाग्नि तेरी सब रागद्वेषादि मलिनताओं को भस्म कर रही होगी। इन मलिनताओं के दूर हो जाने पर ७. **प्रत्यङ् सोमः**=तू अपने अन्दर उस **सोम** =शान्तात्मावाला होगा (You will realise the God within)। तुझे हृदयस्थ प्रभु के दर्शन होंगे। ८. **अतिस्तुतः** =(स्तु गतौ) ब्रह्मनिष्ठ होकर तू अतिशयेन क्रियाशील होगा। तेरा जीवन अकर्मण्य न होगा। और ९. तू **इन्द्रस्य युज्यः सखा**=उस प्रभु का सतत साथ रहनेवाला मित्र बनेगा।

भावार्थ—प्राण-साधना व ज्ञान-प्राप्ति मुझे उस सोम का सतत सखा बनने में समर्थ करें।

ऋषिः—शुनःशेपः। **देवता**—क्षत्रपतिः। **छन्दः**—निचृद्ब्राह्मीत्रिष्टुप्। **स्वरः**—धैवतः॥

प्रभु-प्राप्ति की यात्रा

कुविदङ्ग यवमन्तो यवं चिद्यथा दान्त्यनुपूर्वं वियूय।
इहेहैषां कृणुहि भोजनानि ये बर्हिषो नमऽउक्तिं यजन्ति।
उपयामगृहीतोऽस्यश्विभ्यां त्वा सरस्वत्यै त्वेन्द्राय त्वा सुत्राम्णे॥३२॥

१. गत मन्त्र में प्रभु-प्राप्ति के लिए प्राण-साधना व ज्ञान-प्राप्ति का उल्लेख किया था। उसी प्रसङ्ग में कहते हैं कि **कुवित्**=खूब और **अङ्ग**=शीघ्र ही **यवमन्तः**=जौ के खेतवाले **यवम्**=जौ को **चित्**=निश्चय से **यथा**=जैसे **अनुपूर्वम्**=क्रमशः **वियूय**=पृथक् करके **दान्ति**=काटते हैं, तीन-चार दण्डों (stalks=डण्ठलों) को बायें हाथ में पकड़कर

दायें हाथ से दराँती द्वारा काटते जाते हैं, इसी प्रकार ये आत्म-जिज्ञासु लोग भी एक-एक करके कोशों को पृथक् करते जाते हैं और अन्त में सारी मूँज के अलग हो जोने पर जैसे इषिका (सींक) के दर्शन होते हैं उसी प्रकार सब कोशों से ऊपर उठ जाने पर अन्तःस्थित आत्म-तत्त्व का दर्शन होता है। २. इन आत्म-जिज्ञासुओं में कोई अन्नमयकोश को पृथक् करने में लगा है, कोई प्राणमयकोश को अलग कर रहा है। कोई एक पग और आगे बढ़कर मनोमयकोश तक जा पहुँचा है। एक-आध विज्ञानमयकोश तक पहुँच गया है और आनन्दमय कोश पर पहुँचने के लिए प्रयत्नशील है।

हे प्रभो! **इह इह**=उस-उस स्थान पर पहुँचे हुए **एषाम्**=इन आत्म-जिज्ञासुओं की **भोजनानि**=(भुज=पालन) पालन-व्यवस्थाओं को **कृणुहि**=आप ही करने की कृपा कीजिए। आपसे पालित व सुरक्षित होकर ही ये आगे बढ़ पाएँगे। हे प्रभो! आपने ही इन सबका पालन करना है **ये**=जो **बर्हिषः**=उस-उस कोश का उद्बर्हण करनेवाले उपासक **नमः उक्तिम्**=नमन के कथन से **यजन्ति**=आपकी उपासना करते हैं। ३. हे साधक! **उपयामगृहीतः असि**=तू उपासना द्वारा यम-नियमों का स्वीकार करनेवाला बना है। **अश्विभ्यां त्वा**=प्राणापान की साधना के लिए तुझे प्रेरित करता हूँ। **सरस्वत्यै त्वा**=ज्ञान की देवता के आराधन के लिए तुझे प्रेरित करता हूँ। **त्वा**=तुझे **इन्द्राय**=उस परमैश्वर्यशाली प्रभु-प्राप्ति के लिए प्रेरित करता हूँ, जो **सुत्राम्णे**=सबका उत्तम त्राण करनेवाले हैं।

भावार्थ—हम एक-एक कोश से ऊपर उठते हुए आत्म-तत्त्व का दर्शन करनेवाले बनें। उपयामगृहीत बनें। प्राणापान की साधना करें, ज्ञान-प्राप्तिवाले हों।

ऋषिः—शुनःशेपः। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—निचृदार्ष्यनुष्टुप्। **स्वरः**—गान्धारः॥

पति-पत्नी (आत्मा+परमात्मा)

युवꣳसुराममश्विना नमुचावासुरे सचा।
विपिपाना शुभस्पतीऽइन्द्रं कर्मस्वावतम्॥३३॥

१. जब जीवात्मा परमात्मा से सम्पर्क स्थापित कर लेता है तब प्रभु पति हैं जीवात्मा पत्नी है। उस समय **युवम्**=तुम दोनों **अश्विना**=(अश् व्याप्तौ) कर्मों में व्याप्त होनेवाले, **आसुरे नमुचा**=असुरों के प्रधान अहंकार (न+मुच्) के संहार के निमित्त **सचा**=मेलवाले **सुराममम्**=उत्तम रमणीय सोम को (सुरमणीयम्) **विपिपाना**=विशेषरूप से पीते हुए **शुभस्पती**=शुभ कार्यों के रक्षक होते हुए **इन्द्रम्**=इन्द्र को **कर्मसु**=कर्मों के करने के निमित्त **आवतम्**=पालित करो, अर्थात् इन्द्र को स्वकर्मक्षम बनाओ। २. परमात्मा व जीवात्मा पति-पत्नी के समान हैं। दोनों अश्विना=कर्मों में व्याप्त रहनेवाले हैं। प्रयत्न उनका गुण है। प्रभु के कर्म सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति व प्रलयरूप हैं। जीव के कर्म ज्ञानोपार्जन, सन्तान-पालन, आत्म-दर्शन व ज्ञान-प्रसार आदि हैं। ३. परमात्मा अहंकार-शून्य है। जीव में अल्पज्ञता के कारण अहंकार आ जाता है, परन्तु जब यह जीव प्रभु के सम्पर्क में आता है तब अहंकार को जीत लेता है। उसी समय अन्य वासनाओं के विजय से यह सोम के पान में भी समर्थ होता है—वीर्य-रक्षा कर पाता है। इस सोमपान का परिणाम यह होता है कि यह शुभ कार्यों में प्रवृत्त होता है, अशुभ कर्मों का त्याग कर देता है। ४. इस सोमपान से उसकी सब इन्द्रियों की शक्ति का वर्धन होता है और वह इन्द्र स्वकर्मक्षम बनता है।

भावार्थ—परमात्मा के सम्पर्क से हमारा अहंकार नष्ट हो। हम सोम का पान करें

और शुभ कार्यों में प्रवृत्त रहें।

ऋषिः—शुनःशेपः। **देवता**—अश्विनौ। **छन्दः**—भुरिक्पङ्क्तिः। **स्वरः**—पञ्चमः॥

प्राणापान का रक्षक

पुत्रमिव पितरावश्विनोभेन्द्रावथुः काव्यैर्दꣳसनाभिः।
यत्सुरामं व्यपिबः शचीभिः सरस्वती त्वा मघवन्नभिष्णक्॥३४॥

१. हे **इन्द्र**=इन्द्रियों के अधिष्ठाता जीव! **इव पितरौ**=जैसे माता-पिता **पुत्रम्**=पुत्र को **अवथुः**=रक्षित करते हैं, इसी प्रकार **काव्यैः**=कवि-कर्मों से, मन्त्र-दर्शनों से, अर्थात् तत्त्व-ज्ञान की प्रतिपादिका वाणियों से तथा **दंसनाभिः**=उत्तम कर्मों से **उभा अश्विना**=ये दोनों प्राणापान **अवथुः**=तेरी रक्षा करते हैं। प्राण-साधना से जहाँ इन्द्रियदोष दूर होकर अपवित्र कर्म नहीं होते वहाँ बुद्धि तीव्र होकर सूक्ष्म-तत्त्वों के ज्ञानवाली भी होती है। २. इस प्राण-साधना से सोम की भी शरीर में ऊर्ध्व गति होती है। हे इन्द्र! **यत्**=जब तू **सुराममं**=सुरमणीय इस सोम को **व्यपिबः**=पीता है, जब इसका अपव्यय न होने देकर तू इसे शरीर में ही सुरक्षित करता है तब **शचीभिः**=उत्तम प्रज्ञानों व कर्मों से **सरस्वती**=यह विद्या की अधिदेवता हे **मघवन्**=ज्ञानैश्वर्य-सम्पन्न तथा (मघ=यज्ञ) यज्ञमय जीवनवाले जीव! **त्वा**=तुझे **अभिष्णक्**=उपसेवित करती है। (निणाज् उपसेवायाम्)। ३. यह प्रज्ञान व यज्ञात्मक कर्म ही वे दो पंख हैं, जिनसे जीवरूप सुपर्ण उस प्रभु-रूप सुपर्ण को प्राप्त करता है। सुपर्ण को सुपर्ण बनकर ही पाया जा सकता है, अतः हम ज्ञान व यज्ञकर्म रूप सुपर्णोंवाले बनें और इसके लिए प्राण-साधना करें।

भावार्थ—प्राण-साधना से हम तत्त्व-ज्ञान व यज्ञात्मक कर्मोंवाले बनें, यही प्रभु-प्राप्ति का मार्ग है।

॥ इति दशमोऽध्यायः सम्पूर्णः॥